छोड़कर भाग जाना पड़ा और एक अफ़गानी अफ़सर शेर खां (शेरशाह सूर) के हाथ में राज्य की बागडोर आ गई। इस तरह हुमायूँ १५साल तक हिन्दुस्तान में तथा उसके बाहर इधर-उधर भटकता फिरा और सूर-वंशजों का राज्य रहा। अन्त में अपने जनरल बैरम खां की सहायता से उसने फिर सन् १५५५ में हिन्दुस्तान को अपने हाथ में लेना प्रारंभ कर दिया, परन्तु एक साल बाद सन् १५५६ में मर गया। अकबर सन् १५४२ में हुमायूँ की इसी भगदड़ के समय उत्पन्न हुआ था। अकबर ने सन् १५५६ से सन् १६०५ तक राज किया। उसने अपनी चाल-ढ़ाल, नीति-चातुर्य से हिन्दू-मुसलमान दोनों को वश में कर साम्राज्य की स्थापना दक्षिण तक कर दी। उसके पश्चात् उसका लड़का जहाँगीर दिल्ली का साम्राट हुआ तथा उसने अपनी मृत्यु सन् १६२७ तक राज्य किया। जहांगीर की मृत्यु के चार वर्ष पहले सन् १६२३ में तुलसी की मृत्यु हुई। इससे स्पष्ट हुआ कि तुलसी हुमायूँ के काल में सन् १५३२ में उत्पन्न हुए और जब वह पुँनः हिन्दुस्तान में आया तब तुलसी की अवस्था लगभग २४ वर्ष की थी। अतः यह निश्चय है कि तुलसी ने स्वयं सूर वंशजों, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के राज्य-कालों का अनुभव किया और उनके पूर्व का इतिहास उन्हें सुनने-पढ़ने से मालूम हुआ होगा।

मुसलमान काल के परिणाम:—

पूर्वोक्त मुसलमान आक्रमणकारियों तथा राजवंशों के समय भारत पर जो जो आपत्तियां आईं उनके विषय में इतिहासज्ञ प्रायः सभी एकमत हैं। इस सबंध में डॉ० राजपति दीक्षित ने लिखा है कि "मरुस्थलीय अरबों ने अचानक आक्रमण करके सिन्धप्रान्त को जीता। इसके उपरांत कोई ढाई सौ वर्षों तक भारत में मुसलमानों का आक्रमण नहीं हुआ। इस बीच हिन्दू राजाओं की अहमहमिका नहीं घटी। हाँ, हिन्दू संस्कृति, कला और सम्पन्नता का विकास महाराजा यशोवर्मन, वीसलदेव, मुञ्ज, भोज आदि के बड़े बड़े राज्योंमें;पर्याप्त हो गया था। कराल काल की गति बलवान् होती है। हिन्दू

राजाओं के बाहुबल से लालित-पालित जिस संस्कृति जिस कला, जिस श्री जिस सम्पन्नता का विकास तब तक हुआ था, उसे भस्म करने के लिए खूँ-खार और असभ्य अफगानों के आक्रमण की भयावह ज्वाला प्रज्वलित हुई और वह दिन दूनी रात चौगुनी होकर देश की शांति और सम्पन्नता को भस्मीभूत करने लगी। इस ज्वाला की पहली लपट निकालने वाले 'बुत-परस्ती' (मूर्ति-पूजा) का अंत करने की तमन्ना रखने वाले, हिन्दुओं के साथ युद्ध करने को 'जिहाद समझने वाले महमूद गजनवी के बारह हमले[७] भारत पर हुए और इन में तीन चार आक्रमणों में देश का विपुल वैभव लुटेरों के हाथ लगा। साथ ही एक से एक बढ़कर भव्य देवालय, विद्यालय, तथा मठ ढहाकर गर्त्त में मिला दिये गये। कितने प्राणी तो तलवार के घाट उतार दिये गये और कितने ही गुलाम बनाकर गज़नी ले जाये गये। महमूद के बाद मुहम्मद गोरी के सात आक्रमणों ने देश की दशा और भी चिन्तनीय कर दी। अंत में देश अफ़गानों के कुटिल शासन में ग्रसित हो गया। इन आदिम मुसलमानों के जिन भिन्न-भिन्न सात राजवंशों ने राज किया वे सभी अपनी पीरशाही हुकुमत से बाज आने वाले न थे। वे इसलाम की कीर्त्ति प्रशस्त रखने के लिये हिन्दुओं को सतत कष्ट देना और मंदिरों को चूर करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इन सबमें कुछ तो इतने कट्टर और धर्मान्ध थे कि उन्होंने हिन्दुओं को न तो कोई नया मंदिर बनाने दिया और न किसी जीर्ण-शीर्ण मंदिर की मरम्मत कहीं करने दी। सिकन्दर लोदी की भांति कितने ही मूर्ति पूजा से तने चिढ़ते थे कि उन्होंने मंदिरों का नाम-निशान तक मिटा देना चाहा।

"इन विविध राजवंशों में ऐसा कोई नहीं दिखाई पड़ता जो धार्मिक पक्षपात से पूर्णतया रहित रहा हो। विजितों को गुलाम बनाने या उनपर पर 'जजिया' कर लादने की कट्टरता कई में थी। जजिया की वसूली

---

७. अन्य इतिहासकारों ने सत्रह हमलों का उल्लेख किया है, जैसे देखो लेनपोल डॉ० ईश्वरीप्रसाद, इम्पीरियल गजिटियर आदि।

में 'जिम्मी'[८] बेचारों को कितनी भर्त्सनाएं सहनी पड़ती थीं, इसे उनका हृदय ही जानता था। कुछ बादशाहों के शासन काल तक तो ब्राह्मण लोग इस कर से मुक्त थे, पर चौदहवें शतक में फ़ीरोज़ तुग़लक ने ब्राह्मणों के लाख हाथ जोड़ने पर भी उन्हें इस कर से वंचित न रहने दिया। अपनी इस्लामी कट्टरता के कारण प्रायः इन सभी मुसलमान बादशाहों ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये और उन्हें शासन-प्रबंध में किसी प्रकार का विशेष अधिकार न दिया। यही नहीं अनेकों ने हिन्दुओं की कुल-कानि भी हठ-पूर्वक मिटाई। उनकी बहू-बेटियों को बलपूर्वक छीनना अपना कर्तव्य समझा। अलाउद्दीन जैसे नितान्त निरंकुश शासक के लिये तो यह कार्य सामान्य ही था, पर अन्यान्य सुल्तानों ने भी इसके कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये चौदहवें शतक में तुग़लक शाह ने बड़ी निर्दयता के साथ राना मलभट्टि की दुहिता का अपहरण किया था।[९] निरीह मूक पशुओं, विशेषतया गाय की कुर्बानी भी सुलतानों के दीन की अंग थी। गौ को माता कहने वाले हिन्दुओं की छाती इससे भी फटती थी।

"एक ओर तो मुसलमान बादशाहों की निरंकुशता, उनकी स्वेच्छाचारिता और उनकी धर्मान्धिता से देश में अशान्त, विपन्न लोगों की आहें निकल रही थीं, दूसरी ओर वे बेचारे नाना प्रकार के आन्तरिक विद्रोहों तथा बाहरी आक्रमणों से निरंतर भयभीत रहते थे। मुसलमानों के शासनकाल में ही चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में मुग़लों के आक्रमण जारी हो गये थे। गुलामवंश वाले तो मुग़लों से डरते ही थे अलाउद्दीन जैसा भयावह नृशंस शासक भी मुग़लों के छः बार के आक्रमण और राजधानी दिल्ली के घिर जाने से त्रस्त हो गया था। आगे चलकर तुग़लकवंश के अन्तिम बादशाह मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में तैमूरलंग के आक्रमण से दिल्ली नगर लगातार

---

८ "यह उन हिन्दुओं की संज्ञा थी जो इसलाम धर्म में आस्था न रखने के दण्डस्वरूप जजिया कर देते थे, हिस्ट्री ऑव मेडीवल इण्डिया पृ० ५७

९ "हिस्ट्री ऑव् मेडीवियल इन्डिया, पृ० ४६६"

पांच दिनों तक लूटे जाने के कारण खंडहर हो गया था। लाखों का क़त्ल हुआ। खून की नदियाँ बहीं, असख्य धन लूटा गया और बस्तियाँ उजड़ गईं। ऐसे समय में सुख और सम्पन्नता टिकती कहाँ ? चारों ओर अराजकता ही अराजकता थी। सोलह वर्षों की अराजकता के पीछे किसी प्रकार सैय्यदों तथा लोदी वंश वालों ने समय समय पर शासन अपने निर्बल हाथों में लिया और कुछ समय तक ज्यों त्यों उसे सम्हाला पर अंत में बाबर के आक्रमण ने उनका भी अन्त कर दिया।"[१०]

इसके बाद दीक्षित जी ने कुछ इतिहास ग्रथों के आधार पर इतिहासकारों की नाई तुलनात्मक दृष्टि से अकबर की प्रशंसा करते ए लिखा है कि "अकबर तितिक्षु था। उसमें पूर्ववर्त्ती मुसलमानों की कट्टरता न थी। अपने साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिये उसने हिन्दुओं को राजभक्त बनाना आवश्यक समझा। उसने राजपूतों से मेल-जोलकर हिन्दुओं से अच्छा बर्ताव किया। गुलामी की प्रथा बंद कर दी, जजिया कर माफ कर दिया और प्रजा को धर्म के मामले में पूरी स्वतंत्रता दे दी। यात्रियों से जो कर लिया जाता था। वह माफ़ कर दिया। पशुओं का बलिदान बन्द कर दिया। हिन्दुओं की कुछ प्रचलित कुरीतियों यथा सती प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह आदि को रोकने का प्रयास किया। हिन्दुओं को शासन प्रबंध में स्थान दिया। उन्हें उच्च पदों पर भी नियुक्त किया। उसके सेनाध्यक्ष राजा भगवानदास और राजा मानसिंह तथा उसके अर्थ-सचिव टोडरमल को कौन नहीं जानता ? ......सामान्य नौकरियों और मुंशीगीरी की जगहों में हिन्दुओं को जो बड़ा प्रोत्साहन मिला वह तो था ही, साथ ही उक्त विविध परिवर्त्तनों का प्रभाव देश की शांति-स्थापना में बहुत कुछ सहायक हुआ। मुग़लों के पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों की कठोरता के कारण जो अशान्ति फैली थी वह बहुत अंशों में दूर हुई।

"अकबर की व्यक्तिगत मनोदृष्टि देश में शान्ति-स्थापना के लिये विशेष

---

१०. 'तुलसीदास और उनका युग', पृ०२५-२७

महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। प्रकृतिः वह सब धर्मों के सिद्धान्तों का जिज्ञासु था। हिन्दू राजाओं की बेटियों से विवाह करने के कारण उसका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर अधिक हो गया था।......फतेहपुर सीकरी के महलों में बादशाह ने इबादतखाना बनवाया, जहां भिन्न-भिन्न मतों के आचार्य शास्त्रार्थ करते और अपने अपने मतों का प्रतिपादन करते।

× × ×

"पूर्ववर्ती मुसलमानों जैसी कूट-नीति के परित्याग से एवं कुशल राजनीतिज्ञता के अनुरोध से उदार धार्मिक नीति के आचरण के कारण अकबर के शासन-काल में अन्तर्विद्रोह भी शान्त हो गये थे। इतना ही नहीं, उसके समय में बाहरी आक्रमणों की भी इति हो चुकी थी। अतएव देश में शांति और सम्पन्नता छाने लगी थी।"[११]

इस प्रशंसा के पश्चात् दीक्षित जी लिखते हैं कि "इस चित्र के देखने से गोस्वामी जी द्वारा कथित मुग़ल राजाओं के निरंकुश उत्पातों तथा हिन्दू जनता की दैन्यावस्था के कथन कुछ अतिरंजित समझ पड़ने लगेंगे। गोस्वामी जी परमोच्च-आचरण युक्त भारी संत और महात्मा थे, जिससे अपने विचारानुसार थोड़ा सा भी उत्पात उन्हें बहुत अखर जाता होगा! यही कारण उनके अति जन का समझ पड़ता है। विपत्तियां थीं तो काफी, किन्तु उनकी मात्रा ऐसी दीर्घकाय न थी जैसी उनके कथनों के देखने से लगती है।......कलिधर्म निरूपण में गोस्वामी जी ने जो कथन किये हैं वे भी बहुत करके प्रायः सभी समयों के समाज पर घटित हो जाते हैं।"[१२]

एक ओर तो ीक्षित जी तुलसी के कथनों को अति जित कहते हैं, और दूसरी ओर अन्य प्रसंग के समय आप कहते हैं कि "इस (मुगलों की) शासन-प्रणाली में जकड़े हुए तुलसी के समकालीन समाज के लिये **अवनति**

---

११. **वही, पृ० २८-३०**

१२. **वही, पृ० २८-३०**

के गर्त का द्वार उन्मुक्त था।"[१३] और फिर यह भी कहते हैं कि "शासक के व्यक्तिगत चरित्र का प्रभाव भी उस(प्रजा) पर बिना पड़े नहीं रहता। तुलसी के समकालीन समाज के समक्ष जिन सम्राटों का उदाहरण था, वे थे अकबर और जहाँगीर दोनों ही विलासी थे। अकबर की विलासिता का प्रमाण मीनाबाजार लगवाने से बढ़कर क्या हो सकता है? उसके हरम में पांच हजार चन्द्र मुखियों का जमघट भी तो था। उसने हिन्दू, फ़ारसी मुग़ल यहां तक अरमीनिया जाति की चुनी हुई गजगामनियां किसलिये जुटायी थीं?

× × ×

जहाँगीर के हरम में भी बहुत सी परियां पड़ी थीं। उनकी संख्या तीन सौ तक पहुंच गयी थी।....प्रजा उसके भय से कांपती रहती थी; इस घोर विलासी मद्यप को जंगली जानवरों से आदमियों को लड़ाकर उनके टुकड़े-टुकड़े कराना प्रिय था; वह हफ्ते में पांच दिनों हाथियों का मल्ल-युद्ध कराता; कहा जाता है कि किसी आशंका से उसने अपने एक मंत्री को मरवा डाला; किसी आदमी से एक कब्र टूट गयी उसे कोड़े मार-मार कर उसकी धज्जियां उड़ा दी गयीं। उसकी प्रकृति की इन कठोरताओं ने प्रजा के हृदय में उसके प्रति कोमल भाव न रहने दिया? वह किसी भी धार्मिक विचार-पद्धति से शून्य था।"[१४] इसके साथ ही यह और जोड़ दिया जाय कि उसने नूरजहाँ के साथ किस तरह से विवाह किया तो उसकी आरचण-हीनता पर्याप्त रूप से प्रकट हो उठेगी। नूरजहाँ का प्रथम नाम था, मिहिरुननिसा। वह बंगाल सूबा के सूबेदार शेर अफगान को विवाही थी। शेर अफगान को एक दूसरे अफसर कुतुबउद्दीन ने टुकड़े-टुकड़े करवा कर मार डाला और उसकी पत्नी मिहिरुननिसा को जहांगीर के दरबार में भेज दिया। उसके करीब चार साल बाद जहांगीर ने उसके साथ अपनी शादी कर ली।

---

१३. वही, पृष्ठ १२

१४. वही, पृष्ठ १२, १३, १४

डा० ईश्वरी प्रसाद कहते हैं कि "यदि सब शहादत (साक्ष्य) की पूरी पूरी जांच की जाय तो इस निष्कर्ष का निकलना अनिवार्य है कि शेर अफगान की मृत्यु विषयक परिस्थितियां अत्यन्त सन्देहोत्पादक हैं और बादशाह को उक्त दोष से विनिर्मुक्त करना बड़ा कठिन है।"[१५]

डा० दीक्षित का उपरोक्त आलोचनात्मक विवरण केवल आक्रमण-कारियों और शासकों की नीति और नृशंसता आदि पर प्रकाश डालता है। मुसलिम सैनिकों तथा नव-निवासी मुसलिम जनता की ओर से पूर्व-वासी हिन्दुओं पर धर्म-सम्बन्धी क्या क्या आपत्तियां गुजरीं इसका कोई आभास उसमें नहीं मिलता, अनुमान चाहे भले ही लगा लिया जाय कि उन्होंने 'पिया-बल' पाकर गजब ढाये होंगे? इन अभयवर-प्राप्त मदोन्मत्त तथा धर्मान्धों ने कितनों की बहू-बेटियों को बिगाड़ कर अपने दीन में मिलाया तथा बलपूर्वक, अथवा लोभ-प्रलोभन देकर या छल-छिद्र से कितनों का धर्म-परिवर्तन कराकर मुसलिम-जन संख्या बढ़ाई, यह इतना प्रकट है कि उसके लिये प्रमाण देने की आवश्यकता ही नहीं। एक ओर तो मुसलिमों की यह कुनीति थी, और दूसरी ओर हिन्दू-समाज की भी जाति-बहिष्कार वाली कुनीति थी—जरा किसी ने किसी का हाथ पकड़ा या किसी पर किसी का पानी का छींटा पड़ा तो वह तत्काल जाति-च्युत और विधर्मी बना दिया गया!! बस! इस दुतरफाधार के कारण एक ओर तो हिन्दू समाज की जन-क्षति और दूसरी ओर मुसलिम-समाज की जन-वृद्धि का तांता चला हुआ था—कितने 'चौधरी' अथवा 'सरकार' आदि 'हक्क' 'खान' या 'मिया' बनते जा रहे थे, और कितनी बेचारी 'रामबाइयां' आदि 'चांदबीबियां' आदि बनती जा रही थीं तथा अपनी सन्तानों में जहांगीरता उत्पन्न करती जा रही थीं।[१६]

---

१५. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of India **पृ० ६४७**

१६. जहांगीर का प्रथम नाम सलीम था। वह आमेर (जयपुर) के

हिन्दुओं का राज-पाट छिना, धन-दौलत लुटी, धर्म-मत-स्वातंत्र्य गया, रोजगार-धन्धा बरबाद हुआ, मान-मर्यादा मटियामेट हुई—ग़रज़ यह कि सब कुछ खोया और हाथ लगी मुसलिम दरबारों एवं उच्छृंखल मुसलिम जनता की नकल। जिनके पास कुछ सम्पत्ति बची वे मांस-मदिरा, नाच-गान आदि में उड़ाकर विलासी बने, और जिनके पास कुछ नहीं बचा वे गुलाम बने। कोई भिखारी बना तो कोई केवल रोटी-भाजी पर किसी का ड्योढ़ीवान, किसी को मुशीगिरी मिली तो कोई सेना में भरती होकर कुल्हाडी का बेंट जैसा बन अपनी भाई-बन्धुओं का ही विनाश कर मुसलिम राज्यों की वृद्धि कराने लगा। सारांश यह कि हिन्दू जनता इतनी पतित होती जा रही थी कि उसका कोई ठिकाना नहीं।

पतन भला इससे अधिक और क्या हो सकता है कि माता-पिता अपनी प्यारी सन्तानों तक को बेचने लग गये थे—'बेचत बेटा बेटकी'[१७] यदि कोई भुखमरी इस नीच कर्म को करे तो क्षम्य हो सकता है, पर उस नीच से तो नीचता भी शर्मा उठती है जो केवल द्रव्य, पद या सम्मान के हेतु अपनी दीन असहाय पुत्री को किसी परधर्मी के हवाले इसलिये कर दे कि वह उसका उपभोग कर उससे अपनी सन्तान बढ़ावे। ऐसे पाषाण-हृदयी लोभी पिता से तो वह भूखा किसान या ग्वाल लाख दर्जा अच्छा है जो अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिये आंसू बहाती हुई अपनी दीन-अबला गाय की डोर कसाई के हाथ में सम्हालते समय सिसकता हुआ मन-मार कर अपने घर लौटता है। स्मरण कीजिये सन् १५६२ का वह दुर्दिन जब आमेर (वर्तमान जयपुर) के राजा बिहारीमल (भारमल) ने बादशाह अकबर को अपनी असहाय-अबला पुत्री जोधाबाई इसलिये समर्पण कर दी कि वह उसे अपनी पत्नी बनाकर रखे और इस लोलुप-लालची पर अपनी छत्र-छाया का हाथ फेर

राजा की पुत्री जोधाबाई वा अकबर से उत्पन्न था। उसने अत्याचारों की दृष्टि से तत्कालीन मुसलमानों को भी मात कर रखा था।

१७. कवितावली, उ० कां० ९६

उसे नौकरी दे दे तथा उसके पुत्र राजा भगवानदास एवं नाती राजा मानसिंह को मनसबदारी वा सूबेदरी आदि मिल जावे। यदि भारतीयों, विशेषकर राजपूतों के क्षत्रित्व भरे ऊंचे मस्तक पर कलंक का बीजारोपण करने का सबसे अधिक दोषी इतिहास में कोई है तो वह है यह कुल-कलंकी बिहारीमल और उसके पुत्र-पौत्र जिन्होंने अकबर के सैनिक होकर राजपूतों का सिर सदैव ऊंचा रखने वाले मेवाड़ (उदयपुर) के रानों के विरुद्ध लड़कर अकबर के राज्य की नीव दृढ़ करने में प्रमुख भाग लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना वह दृष्टान्त प्रस्तुत कर दिया कि दूसरे हिन्दू वा हिन्दू राजा भी अकबर वा उसके पुत्र जहांगीर को अपनी कन्यायें समर्पित करने में अपना अहोभाग्य मानने लगे। इन अहोभाग्यों में से एक तो हैं बीकानेर-नरेश राय कल्यानमल, जिन्होंने लगभग सन् १५६९ में अपने कन्यारत्न का अकबर को दान कर उसके हरम के बेगमों की संख्या बढ़ाने में योग दिया। जोधाबाई के समर्पित हो जाने के "पूर्व भी अकबर रूक्मा तथा सलीमा से पाणिग्रहण कर चुका था। ये दोनों भी राजपूत ललनायें थीं। अकबर का हरम और भी कितनी हिन्दू नारियों से भरा था।"[१८] अकबर के ही नहीं, जहांगीर के हरम में भी राजा उदयसिंह, बीकानेर के (राय कल्यानमल के पुत्र) राजारामसिंह, राजा मानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह, रामचन्द्र, बुन्देला आदि की बेटियां पहुँच गयीं थी।"[१९]

जो लोग यह कह कर अकबर की प्रशंसा करते हैं कि वह धर्म के विषय में उदार था क्योंकि उसने हिन्दू-मतावलम्बियों पर लगी हुई कतिपय करों को बन्द कर दिया था, या कि उसने हिन्दुओं को उच्चपदों पर नियुक्त कर दिया, या कि उसने फतहपुर सीकरी में सब के एकत्र होने के लिए 'इबादत-

---

१८. तुलसीदास और उनका युग, पृ० २ (लेनपोल कृत मेडीवियल इन्डिया पृ० २५१ के आधार पर)

१९. वही, पृ० २ (प्रो० बेनीप्रसाद कृत 'हिस्ट्री आव् जहांगीर' पृ० ५३० के आधार पर)

खाना' बना दिया था और सब धर्म के लोगों को अपने-अपने मतों पर शास्त्रार्थ करने का अवकाश रहता था, या कि उसने सन् १५८१ में 'दीन-इलाही' की राज्य-घोषणा कर दी थी, वे, हमारी समझ में, न तो धर्म की यथार्थता को जान पाये और न अकबर को ही समझपाये ! "अकबर का एकमात्र उद्देश्य यह था कि विद्रोही मुसलमानों पर विजय प्राप्त की जाय और असन्तुष्ट हिन्दुओं से मेल किया जाय जिससे राज्य की नींव दृढ़ होवे और उसका विस्तार भी बढ़े।"[२०] स्वार्थ और विलास, जो अकबर में ठसाठस भरे थे, उस काम के दो रूप हैं 'जो मनुष्य का सबसे बडा बैरी हो कर उसे अधर्मी बनाता है, जिसके विषय में हम किसी गत अध्याय में कह आये हैं। इसलिए तुलसी जैसे सन्त की दृष्टि में अकबर धर्म-प्रिय नहीं, कुटिल-नीतिज्ञ रहा होगा। उसने अपने मनोरथ की सिद्धी के हेतु ही उस कुटिलता पर धार्मिक उदारता का रंग चढ़ाया था और उसी अभिप्राय से उसने हिन्दुओं की कन्याओं से विवाह किये थे। यदि वह सचमुच ही विवाह-सम्बन्ध बढ़ाकर धर्मबन्धन को तोड़ एकमय होने के पक्ष में था तो उसने भी अपनी पुत्री-बहिन-भतिजियों का विवाह हिन्दुओं के साथ किया होता। अकबर कि उक्त नीति को देखकर जिन लोगों ने यह मान रखा था कि उसने मुसलिम धर्म का त्याग कर दिया वे भूल में थे। इसलिये ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है की "इस प्रकार की धारणा के लिये कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। वे धर्मशास्त्री तथा उनसे सहमत होनेवाले अन्य लोग बादशाह के उद्देश्य (motive) को नहीं समझे ?"[२१]

परन्तु देखिये ! इसे न भूलिये ! सन्त मानव मात्र का प्रेमी होता। उसका प्रेम किसी व्यक्ति, जाति या सम्प्रदाय विशेष से सीमित नहीं रहता। वह चाहता है कि मानवता का सर्वत्र प्रसार हो, और सर्वत्र सुख-साम्राज्य छा जाय। इसलिये आप यह न सोचें कि तुलसी दुखित थे, केवल हिन्दुओं

---

२०. Imperial gazetter (vol. II) पृ० ३९८

२१. History of India, पृ० ६०१

की दुर्दशा देखकर उनका हृदय उन पातकी मुसलिमों को देखकर भी रो उठता था जिनके दुष्कर्मों के कारण हिन्दू पतित हो रहे थे, क्योंकि पातकी और पतित दोनों मिलकर समाज को बनाते हैं और दोनों क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से समाज सुख का विच्छेदन करते रहते हैं। सन्त की दृष्टि में पातकी ही पतित, तथा पतित ही पातकी रहता है, क्योकि उसकी सुख-दुख की कसौटी मनुष्य की आध्यात्मिक और मानसिक गतियों पर अवलम्बित रहती है, न कि लौकिक दृश्यों पर। इस दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान दोनों पातकी और पतित थे। समाज को दुखी बनाने का उत्तरदायित्व दोनों पर था। हिन्दू यदि प्रथम से कर्तव्यच्युत न होते अथवा अपना धर्म पालते रहते तो मुसलमान न तो हिन्दुस्तान का राज्य पा सकते और न हिन्दुओं के अध्यात्म (morale) को गिरा सकते, बल्कि उनके सम्पर्क या संघर्ष से मुसलमान स्वयं अपने बुरे आचरण को सुधार लेते। उनकी यह आचरण-हीनता अथवा आध्यात्मिक और मानसिक ह्रास तुलसी के दुख का कारण बन रहा था। जिस प्रकार जिस प्रेम से वे हिन्दुओं के उद्धार के लिये इच्छुक थे उसी प्रकार उसी प्रेम से वे मुसलमानों के उद्धार के इच्छुक थे। चूँकि मनुष्य का वाह्य जीवन उसकी आन्तरिक गतियों का प्रकट स्वरूप होता है, इसलिये मनचली मुसलिम जनता मनचले शिक्षकों तथा शासकों का अनुकरण करने से आन्तरिक अशान्ति के साथ साथ लौकिक-वाह्य सुख से वंचित हो रही थी। मुसलिमों की आन्तरिक दूषित मनोवृति का वाह्य प्रस्फुटन का एक प्रकार तो वही था जिससे हिन्दुओं पर आघात किया गया और किया जाता था, वा जिसके विषय में अभी कुछ पहले कह चुके हैं। दूसरा प्रकार वह था जिससे वे स्वयं अपने-आपको आहत करते जाते थे। इस दूसरे प्रकार के तीन रूप विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) **अतिशय मदिरा-पान**—यह सर्व-विदित है कि मदिरा-सेवन वाले नशे में चूर हो कर पागल बन अपने तथा दूसरों के प्रति कई एक घृणित अनर्थ कर बैठते हैं। इसके अतिरिक्त वे, विशेषकर मध्यम और निम्न वर्ग

के लोग, आर्थिक दुर्गति के शिकार बन जाते हैं और अपने आश्रितों को भी दर-दर के भिखारी बना डालते हैं। मुसलिमों के अनेक घरों में यह दुर्गति डेरा डाले हुए दिखाई देती थी।

(२) **नारी-विलास**—कामान्धतावश नारी वर्ग के साथ नाच-गान तथा भोग-विलासादि में अधिक समय और द्रव्य नष्ट किया जाता था। फलतः शारीरिक रोग, व्यभिचार की वृद्धि तथा नर्तकियों एवं वैश्याओं की संख्या बढ़ने से मुसिलम-समाज की स्थिति शोचनीय होती जा रही थी, और उसकी बू हिन्दू-समाज में फैलती जा रही थी।

(३) **कंचन-मोह**—सम्पत्ति-लोभ, विशेषकर राजघरानों में, इतना अधिक था कि उसके वशीभूत हो पिता पुत्र का, पुत्र पिता का, गुलाम मालिक का, सरदार-सूबेदार राजा का खुलेआम या षडयन्त्रों के द्वारा परस्पर क़त्ल करना-कराना निशि-दिन का काम हो गया था। कौटुम्बिक प्रेम का प्रायः लोप सा हो गया था। न जाने किस समय कौन लड़का या सरदार कौन नवाब या सूबेदार बागी हो जाय और खून की नदियां बह जायं, यही शंका बनी रहती थी। इस तरह यह मुसलमानी-काल मुसलिमों का एक शंका-ग्रस्त, द्रव्य-लोलुप एवं पारस्परिक रक्त-प्रवाहक जीवन का इतिहास है, जो सारे समाज को दूषित कर रहा था।

यदि थोड़ी देर के लिये यही मान लिया जाय, जैसा कि बहुत से इतिहासकार समझते हैं कि अकबर की उदार कही जाने वाली धार्मिक नीति की तह में कोई राजनैतिक चाल नहीं थी तो भी तुलसी की दृष्टि में वह उपेक्षनीय ही हो सकती थी क्योंकि सैकड़ों वर्षों की पली-पोसी दूषित पद्धति में उसका व्यक्ति-विशेष के विचाराधीन होने के कारण आ जाना क्षणिक ही था। महापुरुषों का विरोध दूषित पद्धतियों या व्यवस्थाओं से रहता है, और इतिहास से सिद्ध है कि दूषित व्यवस्था-काल के समय कभी-कभी बीच में कोई एकाध सच्चरित्र मनुष्य भी आ जाता है जो उसका पूर्णतः अथवा अंशतः विरोध करता हुआ अपने कर्तव्यों को निबाहता रहता है। परन्तु इतने से ही कहीं पद्धति का दोष मिटता है ? वह तो एकाध स्थान

पर थोड़े समय के लिये नाम-मात्र को अवरुद्ध होकर ज्यों की त्यों बनी रहती है। तुलसी का विरोध था, मुसलमानी बहुमुखी दूषित पद्धति से, जो लगभग ९०० वर्षों से चली आ रही थी और जो अकबर के बाद भी कई वर्षों तक क़ायम रही, यहां तक कि औरंगजेब के समय उसने पुनः अत्यन्त भीषण रूप धारण कर लिया। इसी कारण से हमें पूर्वोक्त विवरण में तुलसी के बहुत पहले के इतिहास पर प्रकाश डालना पड़ा तथा इसी कारण से रामचरितमानस के रचना-काल (१५७५-७७) के बाद के कुछ काल के इतिहास पर भी दृष्टि रखनी पड़ी।

पूर्ववर्त्ती और समसामयिक पद्धतियां

समाज का कार्य कई क्षेत्रों से सम्बन्ध रखता है, और तदनुसार तत्-तत् क्षेत्रीय उसकी रूढ़ियां या पद्धतियां बन जाती हैं, जो यथार्थतः एक दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं। इन सबों का समावेश निम्न विभागों में हो जाता है यथा (१) राज्य-पद्धति, (२) आर्थिक पद्धति, (३) सामाजिक (social) पद्धति, (४) शिक्षा-पद्धति, (५) धार्मिक पद्धति और (६) साहित्य-पद्धति। यों तो पूर्वोक्त विवरण से इनके विषय में कुछ न कुछ अनुमान लगाया जा सकता होगा, पर उतना ही पर्याप्त नहीं है। इसलिए उन पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है।

(१) राज्य-पद्धति

निचोड़ रूप से यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि मुसलिम-शासन मूलतः सैनिक और कट्टर साम्प्रदायिक (इसलामी) था, तथा अराजकता, विषमता एवं अन्याय उसके अंग थे। राजा-प्रजा तथा प्रजा-प्रजा के बीच बड़ी गहरी खाइयां थीं। एक ओर बड़े-बड़े मनसबदार,[२२] नवाब, सरदार,

---

२२. मुगल बादशाहत के समय कुछ लोगों को राज्य की ओर से कुछ रकम मिला करती थी जिसके बदले में, उन्हें उक्त रकम के अनुपात से कुछ निश्चित घोड़े और सैनिक सवार रखने पड़ते थे। युद्ध के समय अथवा अन्य

सूबेदार, जागीरदार आदि भोग-विलास में मस्त रहते थे, तो दूसरी ओर क्षुधा से पीड़ित लाखों-करोड़ों लोग विलखते थे। एक ओर मुसलमान प्रजा निर्भय और नृशंस थी, तो दूसरी ओर हिन्दू प्रजा मुसलिम राजाओं एवं मुसलिम प्रजा से सदैव सशंकित रह जीवन-निर्वाह करती थी। एक ओर स्वेच्छाचारी मुसलमान हिन्दुओं की बहू-बेटियों, बहिन भानजियों की बेइ-ज्जती करने अथवा उनके दीन-धर्म बिगाड़ने में निडर रहते थे, तो दूसरी ओर हिन्दू मुसलमान की स्त्रियों को आंख उठाकर देखने में भयभीत रहते थे। एक ओर मुसलमानों पर कोई धार्मिक कर नहीं लगाया जाता था, तो दूसरी ओर हिन्दू प्रजा 'जजिया' आदि धार्मिक करों के बोझ से दबी जा रही थी। एक ओर तलवार का बल और राज-सम्मान का प्रलोभन 'बुदपरस्त' वा 'क़ाफिर' कहे जानेवाले हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में लगे थे, तो दूसरी ओर हिन्दूजन ग़म खाकर अपने खोये हुए भाई-बहिनों का सदा बहिष्कार कर धर्मध्वजी कहलाने का पाखण्ड कर रहे थे। कहीं देवमूर्ति का भंजन दिखाई देता था, तो कहीं देवालय, मठादि का गिराया जाना तथा उनके स्थानों में मसजिदों का खड़ा किया जाना एवं कुरान की आयतों का पढ़ा जाना नज़र आता था। ऐसा मालूम होता था कि मुसलमानों ने अपनी अनीति को धर्म का चोगा पहिनाकर रखा हो, और हिन्दुओं ने अपनी कायरता को सहिष्णुता का। सारांश यह है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत के अनुसार उस समय मुसलिम-जीवन में अधिकतर, तथा उसके प्रभाव में आ जानेवाले कुछ हिन्दू-जीवन में अंशतः असंयम, सम्पत्ति-हरण, विलासिता, मादक पदार्थ-सेवन आदि कुरीतियों तथा अत्याचारों का ही बोलबाला दिखाई दे रहा था। इसी को तो रावण-राज्य अथवा निशाचर या राक्षस-राज्य कहते हैं। इसी का खाका खिचा हुआ हमें मानस

किसी दूसरे समय पर बादशाह के आदेशानुसार उन्हें उक्त घोड़ेमय सैनिक सवारों के राज्य को भेजने पड़ते थे। इस प्रकार से रकम पाने वाले लोगों को मनसबदार कहा जाता था।

में मिलता है। रावण के बहाने उसमें अत्याचारी शासक का लक्षण यह कहकर दर्शाया गया है—

"आयसु करहिं सकल भयभीता नवहिं आइ चरन विनीता॥"[२३]

"भुजबल विस्ववस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।
मंडलीक मनि रावन, राज करइ निज मंत्र।
देवजच्छ गंधर्बनर, किन्नर नाग कुमारि।
जीत वरीं निजबाहुबल, बहु सुन्दर वर नारि॥"[२४]

जब इस तरह की राज्य-व्यवस्था चलती है तो वहां की प्रजा आसुरी अथवा निशाचरी वृत्ति की हो जाती है। उस समय यह होता है—

"बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन पर दारा॥
मानहि मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहि सेवा॥
जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानुहु निसिचर सम प्रानी॥"[२५]

जब इस प्रकार का निशाचरी राज्य होता है तब देश में अधर्म, हिंसा आदि का इतना प्रसार हो जाता है कि उसकी कोई सीमा नहीं रहती, जिसका चित्रण मानस में यों किया है—

"देखत भीम रूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाऊँ पुर आगि लगावहिं॥

× × ×

बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पाप कवन मिति॥"[२६]

---

२३. मानस, बा० कां० १८१/१३
२४. वही १८२ (क), (ख)
२५. वही १८३।१/३
२६. वही १८२ (ख) ३/६; १८३

यदि निशाचर कहना किसी को बुरा लगे तो "कलिमल ग्रसे धर्म सब" और "लोभ ग्रसे शुभ कर्म" इतना ही कहना पर्याप्त होगा।[२७]

यदि और भी अधिक स्पष्ट देखना है तो इस दोहा को ही पढ़ लीजिये—

"गोंड़ गँवार नृपाल महिं, यमन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥"[२८]

(२) आर्थिक पद्धति--

जिस देश की राज्य-व्यवस्था कई शताब्दियों से आसुरीवृत्ति पर आधारित रही हो, जैसा कि ऊपर बताया गया है, वहां की सर्व साधारण जनता की आर्थिक स्थिति किसी भी प्रकार से अच्छी नहीं हो सकती। न तो अर्थ-उत्पादन ही उचित विधि और मात्रा में किया जा सकता, और न उसका समुचित संरक्षण और वितरण होता। यही दशा तुलसी-काल में भारतवर्ष की हो रही थी। यह तो कहा ही जा चुका है कि उस समय भारतीय समाज दो धारों में बह रही थी—एक थी मुसलमान जाति की, और दूसरी हिन्दू जाति की। इनमें से मुसलमान जाति पर राज्य-कृपा अधिक रहती थी। इसलिये यह स्वाभाविक था कि उसे आर्थिक वृद्धि करने के अधिक साधन मिलते थे। सबसे पहली बात तो यह थी कि हिन्दुओं की भूमियों का नाना विधि से अपहरण कर उन पर मुसलिमों को बसाया गया और उनकी कृषि-भूमि एवं जमींदारियां उन्हें बक्सी गईं। जिसने जो भूमियां वा जागीरें बलपूर्वक प्राप्त कर ली थीं उन्हें राज्य की ओर से मान्यता दी गई अर्थात् उनके अधिकार स्वीकार कर लिये गये। इसके साथ ही साथ उन्हें राज्य में बड़े-बड़े वेतनों पर या जागीरें देकर सरकारी नौकरियां दी गईं। हिन्दू-मुसलिम के जाति-भेद के कारण जो विषमता आर्थिक क्षेत्र में फैली हुई थी उसे जाने दीजिये। अब साधारणतया देखिये तो समाज में अर्थ

---

२७. मानस उ० कां०, ९७ (क) (ख)
२८. दोहावली, ५५९

दृष्टि से तीन वर्ग के लोग थे—(१) उच्च, (२) मध्यम और (३) निम्न।

सम्पत्तिवान होने के समय दो साधन प्रधान थे—एक कृषी और जमींदारी, और दूसरा राज्य के शासकीय विभागों में नियुक्त होकर वेतन पाना। उच्च श्रेणी में वही लोग थे जो बड़े-बड़े जमींदार, मनसबदार, सूबेदार आदि थे। ऐसे लोगों की संख्या न्यून थी। दूसरी श्रेणी के लोग वे थे जो छोटे-छोटे वेतनों पर नौकरी करते थे अथवा अल्परूप में कृषि या व्यवसाय करते थे। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणी के लोग थे, मजदूरी-पेशा वाले। समाज का अत्यधिकांश इन्हीं लोगों का था। प्रथम श्रेणी और इस श्रेणी के बीच में आर्थिक विषमता की एक बड़ी गहरी खाई थी, यहां तक कि गरीब माता-पिता अपने बच्चों को रोटियों पर नौकर रख देते थे, और कभी-कभी उन्हें बेचकर गुलाम बना देते थे यों तो समय यहां तक आ गया था, जैसा कि बरानी (Barani) ने अलाउद्दीन के राज्य-कुल का वर्णन करते समय लिखा है कि बड़े बड़े चौधरियों और खुतों की पत्नियों को निर्धनता के कारण मुसलमानों के घरों में सेवा-वृति करनी पड़ती थी।[२९] व्यवसाय का यह हाल था कि कुछ लोग अपने-अपने रोज़गार-धन्धे छोटे-छोटे पैमानों पर कर श्रम-जीवियों (labowrers) के समान अपनी गुजर-बसर करते थे और कुछ अकबर के द्वारा स्थापित राज्य के कारखानों में, जिनमें कुछ कीमती वस्तुयें तैयार कराई जाती थीं, मजदूरी कर अपना पेट पाला करते थे। परन्तु यह कार्य इतनी भारीजन-संख्या के लिये पर्याप्त नही था। ये कारखाने लाहौर, आगरा, फतहपुर और अहमदाबाद जैसे बड़े-बड़े शहरों में ही थे।[३०] इसलिये ग्रामीण जनता को उनसे कोई लाभ नहीं था। न तो वे अपना उदर-पोषण कर सकते थे, न यथोचित कपड़े-लत्ते पहन सकते थे, और न कोई व्यवसायिक कला ही सीख सकते थे। परिणाम यह होता

---

२९. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of india, पृ० ५६४
३०. वही, पृ० ८७१

था कि जब कभी देश के किसी भाग में अकाल पड़ जाता था तो वहां की जनता अपने स्थानों पर या भगदड़ के समय इधर-उधर त्राहि-त्राहि कर मर जाती थी, जिसका एक प्रधान कारण यह भी था कि उस समय, आज की तुलनात्मक दृष्टि से, यातायात के साधनों की अत्यन्त कमी थी। तुलसी के समय ही में दो भयंकर दुर्भिक्ष भारत में पड़े थे जिनका कटु परिणाम तुलसी ने स्वयं अपनी आंखों से देखा होगा। एक था सन् १५५५-५६ का जो आगरा और बियाना के निकटवर्ती स्थानों में हुआ। इसके विषय में इतिहासकार बदौनी (Badaoni) ने लिखा है कि "मनुष्य मनुष्य ही को खा लेता था। दुर्भिक्ष-ग्रसित लोगों की वह भयंकर दशा थी कि उनकी ओर देखा जाना भी कठिन था। पूरा क्षेत्र का क्षेत्र निर्जन (मरुस्थल) बन गया था।" इसी तरह संन् १५७३-७४ में भी गुजरात में एक दूसरा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और उसी के साथ भारी बीमारी भी फैली। फलतः अनाज की कमी के कारण अनेकों के प्राण गये और अनेकों तहस-नहस होकर कठिनाई से बच पाये। इसके पश्चात् मानस लिख जाने के बाद अकबर के काल ही में सम्भवतः कवितावली वा विनय-पत्रिका लिखे जाने के पूर्व, सन् १५९५ से सन् १५९८ तक चार साल एक तीसरा भीषण दुर्भिक्ष देश में व्याप्त हुआ जिसके विषय में भी इतिहासज्ञों का लेख है कि "मनुष्य मनुष्य को खा जाते थे और रास्तों पर पड़े हुए मृतकों के कारण रास्ते रुक गए थे तथा उन्हें हटाने के लिये कोई सहायता नहीं मिल सकती थी।"[३१]

प्रजा की इस विषम आर्थिक स्थिति का चित्रण हमें कवितावली के निम्न छन्दों में मिलता है। प्रथम श्रेणी के लोगों के बारे में यह कहा है—

"झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनो गति चंचल, पौन के गौनहुं ते बढ़ जाते।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बाहर भूपखरे न समाते।
ऐसे भूपतौ कहा 'तुलसी' जु पै जानकी नाथ के रंग न राते॥"

३१. वही, पृ० ८६९-७०

"राज सुरेस पचास कको, विधि के कर को जो पटो लिखिपाए।
पूत सुपूत पुनीत प्रिया, निज सुन्दरता रति को मद नाए।
संपति सिद्धि सबै 'तुलसी' मनकी मनसा चितवैं चितलाए।
जानकि जीवन जाने विना जग ऐसेउ जीवन जीव कहाए॥"[३२]

अब अन्य श्रेणियों के लोगों के विषय में देखिये, क्या कहा है—

"किसवी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी भाँट,
चाकर चपल नट चोर चार चेट की।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेट की।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेट की।
'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्यामि ही तें,
आग बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की॥"
"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमन सोच-बस,
कहैं एक एकनसौं 'कहां जाई का करी?'
बेद हू पुरान कही, लोक हू विलोकियत,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपाकरी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु,
दुरित-दहन देखि 'तुलसी' हहाकरी॥"[३३]

---

३२. कवितावली, ४४-४५; पौन=पवन; गौनहुं=गमन; खरे=खड़े; पटो=पट्टा; रति को मदनाए=रति के मद को नीचा कर देता है; मन की मनसा=उन लोगों के मन की इच्छा को।

३३. वही ९६-९७; किसवी=मजदूर या छोटे२ व्यवसायी; चार=हलकारे; चेट की=बाजीगर; अटत=भटकते हैं; अखेट की=शिकारी;

उपरोक्त अन्तिम छन्द में "कहैं एक एकन सों कहां जाई का करी।" से प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी के सन्मुख उस समय दुर्भिक्ष-पीड़ितों की दुर्दशा का चित्र भी झूल रहा होगा। जो भी हो, पर तुलसी को तीनों श्रेणी के लोग दुखी दिखे, क्योंकि दरिद्र तो पेट की अग्नि के कारण दुखी ठहरे ही, पर सम्पत्तिवान भी तृष्णा-प्यास से तृषित रहते थे, जैसा कि उन्होंने निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है—

> **"कृसगात ललात जो रोटिन को, घरवात धरैं खुरपा खरिया।**
> **तिन सोने के मेरु से ढेर लहे, मन तो भरो घर पै भरिया।**
> **'तुलसी' दुख दूनो दसा दुहुँ देखि, कियो मुख दारिद को करिया।**
> **तजि आस भो दास रघुप्पति को, दसरत्थ को दानि दया-दरिया।।"**[34]

(३) सामाजिक पद्धति (Social System)—

हिन्दुस्तान का तत्कालीन समाज मूलतः दो विभागों में विभक्त था, मुसलमान और हिन्दू। दोनों के धार्मिक-मतों, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, रीति-रस्मों आदि, अर्थात् समस्त सामाजिक जीवन में बहुत अधिक भिन्नता थी। मुसलिमों की कट्टरता तो उनकी संख्या को बढ़ाने में योग दे रही थी, परन्तु हिन्दुओं की कट्टरता उनकी संख्या को क्षीण करने में लगी थी। इस तरह उन दोनों के बीच एक काफी लम्बी-चौड़ी खाई बन रही थी। परन्तु, यदि एक ओर इस खाई के बनने का काम चल रहा था तो दूसरी

बड़वागि=बड़वानल अर्थात् समुद्राग्नि; सीद्यमान=दुखित; साँकरे=संकट, पै=पर; दारिद-सानन=दरिद्रता रूपी रावण; दूनी=दुनिया; दुरित—दहन=विपत्ति-नाशक।

३४. वही, ४६; घर बात=घरका सामान; घरपै=घर पर; खुरपा=घास छीलने का खुरपा; खरिया= घास बाँधने की जाली; तिन=वे (धनी); भरिया=भरने वाला (मन-सन्तोष) दरिया=नदी।

ओर उसे पाटने के प्रयत्न करने में भी कुछ लोग अपनी-अपनी मति के अनुसार लगे हुए थे। इनमें से सूफियों, कबीर-पन्थियों, नानक-पन्थियों, दादू-पन्थियों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त नामदेव वा उनके अनुयायियों तथा राजदरबार के आसपास चक्कर लगाने वाले चाटुकारी कुछ राजदरबारी वा कवियों के हाथ भी उस कार्य में योग दे रहे थे। परन्तु वह खाई पाटी न जा सकी। दो फटे हृदय एक न हो सके। हां! इतना अवश्य होने लग गया था कि दोनों एक दूसरे के उत्सवों वा प्रधान त्यौहारों में शामिल होने लगे थे। परन्तु इतने से क्या? वह केवल एक वाह्य प्रदर्शन मात्र-सा हीं था। हृदय तो अभी भी मुसलमानों का अरबी, अफगानिस्तान या तुर्कस्तानी बना हुआ था, न कि हिन्दुस्तानी। अपने को विजेता और शासक वर्ग की जाति के समझने के कारण उनमें अभी भी अभिमान भरा था। इसलिये एक देश की सन्तान वा प्रजा होने के नाते भाईचारे का भाव उनमें नहीं आया था कि जिससे वे हिन्दुओं के कंधे से कंधे मिला कर एवं हृदय से हृदय जोड़कर सुख-दुख के साथी बन सकते। हिन्दुओं के साथ उनका सम्बन्ध शिथिल था, इसमें सन्देह नहीं, पर वे स्वयं दृढ़ता पूर्वक सुसंगठित थे, भले ही साधारण जनता में कभी-कभी कारणवश लड़ाई-भिड़ाई अथवा राजकुलों में लोभ-ईर्षा आदि के कारण खून-खराबी हो जाती हो।

एक ओर सुसंगठित मुसलिमवर्ग में पारस्परिक सहोदरता का भाव था, तो दूसरी ओर हिन्दूवर्ग जाति-उपजाति तथा छुआ-छूत के भेद-भाव के कारण छिन्न-भिन्न हो रहा था। वह अन्यान्य ऐतिहासिक कारणों से अपनी प्राचीन संस्कृति, तत्त्व-विद्या तथा सभ्यता को भूल गया था, जिस पर उसके पू ंजों का अधिकार उस अतीत काल ही में हो गया था जब कि संसार की अन्य जातियां वन्य जीवन को पार करने में लगी थीं, अथवा शैशव काल के पलना में सो रही थीं। उसे यह विस्मरण हो गया कि उसका धर्म क्या है। धर्म-तत्त्व को भूल वह कुछ ऐसी रूढ़ियों में फँस बैठा था कि उनसे उसका मुक्त होना बड़ा कठिन हो रहा था। 'जैसा

भीतर वैसा बाहर' यही उसके धर्म का मूलाधार बनाया गया था। दूसरे शब्दों में उसका आत्मधर्म वही था, जो लोक-धर्म से भिन्न न हो। गीतान्वित "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"[३५] का यही आशय है। "एकत्वं अनुपश्यतः"[३६] में उसका धर्म-सिद्धान्त निहित है। उस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने के लिये उसे यह आदेश है कि लोक-संग्रह की इच्छा रखते हुए अनासक्त होकर लोक-कर्म किये जावें—"कुर्यात् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोक संग्रहन्"[३७] इन्हीं सिद्धान्तों में और आदेशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये प्राचीन आर्यों ने मानव जीवन को विकसित वा शुद्ध होते रहने की दृष्टि से चार 'आश्रम', तथा समाज को व्यवस्थित रखने की दृष्टि से चार 'वर्ण' मनुष्य के स्वाभाविक गुणों के अनुरूप बना रखे थे, क्योंकि उनकी सारी संस्कृति की भित्ति स्वाभाविक अर्थात् प्राकृतिक नियमों (natunal laws) पर खड़ी की गई है। यही स्वाभाविक विभक्तिकरण हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में 'वर्णाश्रमधर्म' के नाम से विख्यात है, जिस पर पिछले पांचवें अध्याय में मूल भाव की दृष्टि से पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। यहां केवल इतना ही स्मरण कराना है कि काल-चक्र के प्रभाव में पड़कर हिन्दू जनता इस धर्म को भूल धीरे-धी े नीचे की ओर खिसकती गई। व्यक्तिगत जीवन को पवित्र और कर्तव्यनिष्ठ बनाने वाली न वह शिक्षा रही न दीक्षा, न वह निष्ठा रही न साधना और न वे चतुराश्रमीय संयम रहे न नियम, जिनके पालन करने से आसु ी ृत्तियों के स्थान में दैवीवृत्तियों का रहना सम्भव रहता था। इसी तरह समाज को व्यवस्थित बनाये रखने वाले स्वाभाविक गुणों पर आधारित वर्ण व्यवसायसूचक तथा उत्पत्तिसूचक जातियों के रूप में परिवर्तित होते गये, यहां तक कि चार वर्णों के स्थान में सैकड़ों

---

३५. गीता, १।१, कुरु=करना; कुरुक्षेत्रे=कर्मक्षेत्र (field of action)

३६. ई० उप०, मंत्र ७

३७. गीता, ३।२५

जातियां-उपजातियां बन गईं। समय के पलटा खाने के कारण उच्च वर्ण के लोगों के सामने जब जीविका की कठिनता उपस्थित हुई तो उन्होंने कुछ निम्न व्यवसाय करना शुरू कर दिये जिससे उनके नाम भी उन्हीं कृत्यों के नामों के अनुरूप कहे जाने लगे, जैसे तेली, कुम्हार, लुहार आदि। कालान्तर से यही व्यवसायी और उनकी सन्तानें अपने अपने व्यवसायों में परम्पराबद्ध होकर तद्-तद् नाम की जातियां बन गईं। फल यह हुआ कि पहले जिस समाज में चार वर्ण इस प्रकार लचीले (fleixble) रहते थे कि कोई भी किसी वर्ण का मनुष्य अपने सच्चरित्र और विकसित योग्यता के अनुरूप किसी दूसरे उच्च वर्ण का अधिकारी बन जाता था, अथवा दुश्चरित्रता वा अयोग्यता के अनुरूप निम्नवर्ण को प्राप्त हो जाता था, उसी समाज का विभाजन सैकड़ों ऐसी लोहवत-कट्टर (non-flexible) जाति-उपजातियों में हो गया था कि कोई अपने दायरे को छोड़ दूसरे के दायरे में नहीं घुस पाता था। एक बार कोई ब्राह्मण हुआ कि उसकी सन्तति सदा के लिये अमर ब्राह्मण बन बैठी, चाहे वह चोर हो, व्यभिचारी हो या खूनी हो। इसी तरह एक बार कोई शूद्र कहाया कि उसकी सन्तति सदा के लिये शूद्र बन गई, चाहे वह सदाचारों वा आत्मोन्नति के द्वारा ब्राह्मणों को शर्माने वाला ही क्यों न हो। समाज की इस खंडहर दुर्व्यवस्था के समय भी लोग चारों वर्णों के नाम नहीं भूले, और न उन्होंने 'द्विज' शब्द को भुलाया। वे इन सैकड़ों समस्त जातियों का वर्गीकरण उन्हीं चारों वर्णों के अन्तर्गत करते गये। ब्राह्मण तो ब्राह्मण रहे ही; पर अन्य जातियों में से कुछ दो-चार ऐसी बन गईं जिन्होंने शस्त्र-बल आदि के कारण राज्य-सत्ता जमा ली जिससे वे क्षत्रिय बन गये, कुछ दो-चार व्यावसायी होने के कारण द्रव्योपार्जक तथा द्रव्यसंचयी बनने से वैश्य कहलाये जाने लगे, और सैकड़ों अन्य श्रम-जीवी जातियां सबकी सब शूद्र कहलाई गईं। वर्ण-संज्ञा के अन्तर्गत स्वाभाविकता का जो भाव आदि में था वह मिट गया और उसके स्थान में जन्म और व्यवसाय सूचक कृत्रिमता का नया भाव प्रविष्ट हो गया। इस भाव और भाषा के वैषम्य ने आगे चलकर समस्त समाज ही को विषैला बना दिया

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कही जाने वाली जातियां अशिक्षित मूर्ख अथवा कर्तव्य-च्युत होने पर भी 'द्विजाति' संज्ञा से विभूषित होती रहीं। बाद में 'द्विज' ब्राह्मण का ही द्योतक माना जाने लगा। इससे उनमें दर्प दम्भ, अभिमान बढ़ा, और शूद्र कहे जाने वाले लोग अपमानित वा तिरस्कृत होते गये, जिससे स्पृशास्पृश का प्रश्न उठा। फलतः हिन्दू समाज की इन दुष्कृतियों के कारण पारस्परिक प्रेम घटा, कर्तव्य-विमुखता फैली और फूट ने घर बना लिया। न पारस्परिक शादी-विवाह रहा न खाना-पीना, न साथ में पढ़ना-लिखना रहा न बैठना-उठना। और क्या कहा जाय, अस्पृशता का भूत इतना चढ़ गया कि शूद्र कहे जाने वाले नारायण रूप नर की परिछाईं पड़ जाना ही पाप समझा जाने लगा। इधर यह शूद्र ब्राह्मण को देख गुर्राकर कहता था कि मैं क्या तुमसे किसी तरह कम हूँ—'मैं क्या ब्रह्म को नहीं जानता' और उधर वह धर्म-कर्म-च्युत पाप-परायण ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य डांट-डपट कर उस शूद्र से घृणा करने में अपनी शान समझता था। सारांश यह कि तत्कालीन हिन्दूसमाज में राजा से लेकर रङ्क तक, तथा विद्वान् से लेकर मूर्ख तक सब कोई स्वाभाविक गुणों की लीक छोड़कर कृत्रिमता के रंग में रंग रहे थे। राजकीय, पारिवारिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में मर्यादा का उल्लंघन हो रहा था! न शास्त्र-ज्ञान था, न शास्त्र-पथ का अनुगमन। 'अधिकारी' तदनुरूप उत्तरदायित्व का त्याग कर देने पर भी अधिकारित्व की घुड़की भरता था, और अनधिकारी भी सरजोरी कर अधिकारी बनने का दम भरता था। न राजधर्म था न कुल-धर्म, न आत्मधर्म था न समाजधर्म। राजा के काम प्रजापालक जैसे न होकर प्रजा-भक्षक जैसे हो रहे थे, और प्रजा सशंकित वा सभय होकर हृदय और मन को सिकोड़े दयावती बन सलामी ठोका करती थी। यहां कौटुम्बिक स्नेह नहीं था, तो वहां जनस्नेह भी समाप्त हो चुका था। गरज यह कि हिन्दू-समाज विश्रृङ्खलता का दृश्य बन रहा था।

इस तरह एक ओर तो मुसलिम-जन-समाज में अमानुषीय प्रकार के दूषण थे, तो दूसरी ओर हिन्दू-जन-समाज में शास्त्र-विरोधी अवगुण

भरे थे। वहां वन्य जीवन की प्रधानता थी तो यहां पथ-भ्रष्टता की। दोनों की तीन और छै के अंकों जैसी दो विभिन्न संस्कृतियों के आ मिलने से भारतीय जन-समुदाय में फेनल अथवा उद्दीप्त-असामञ्जस्य बुलबुला रहा था। जिस काल में मानव-समाज के अन्तर्गत संयम-नियम से बंधी हुई मर्यादाओं का उल्लंघन होकर समन्वय के स्थान में उच्छृंखलता का साम्राज्य हो जाता है उसी का नाम यथार्थ में कलियुग है। ज्योतिर्विद गणितज्ञों की करोड़ों वर्षवाली अंक-गणना के द्वारा चतुर्युगों का जो अनुसन्धान लगाया जाता है वह दीर्घज्ञानियों के लिये किसी प्रकार लाभदायक भले ही प्रतीत हो,पर उसमें हमें तो कोई जीवनोपयोगी व्यवहारिकता नहीं दिखाई देती। व्यवहारिकता है उनके मूलार्थों में। 'कलि' का अर्थ है 'असामञ्जस्य' अथवा 'विग्रह' (dissension or strife आदि)[३८] इसलिये जिस युग (काल) में असामञ्जस्य या विग्रह की प्रधानता हो उसी का नाम 'कलियुग' समझना चाहिये। जो भी हो, तुलसी का मन तत्कालीन हिन्दुस्तानी समाज की दुर्व्यवस्था को देखकर संतप्त था और हृदय व्याकुल। उसका चित्रण हमें— कलि-वर्णन के अन्तर्गत दोहावली के ५४६ से ५६० तक के दोहों में, कवितावली के ८४ से ८७ तक के वा १०५ वें छन्द में विनय पत्रिका के १३९ वें भजन में वा रामचरितमानस के उत्तरकांड में दोहा ९९ (ख) से लेकर दोहा १०२ (क) तक पर्याप्त रूप से मिलता है, परन्तु विस्तारभय के कारण यहां पर केवल मानस की ही कुछेक पक्तियां दृष्टान्तस्वरूप दी जाती हैं। काकभुशुंड जी गरुड़ जी से कहते हैं—

"सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥

दो०—कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सब ग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्पिकरि, प्रकट किए बहुपन्थ॥
भए लोग सब मोह बस, लोभ ग्रसे सुभकर्म।
सुनु हरिजान ज्ञान निधि, कहहुँ कछुक कलिधर्म।

---

३८. देखो भिड़े कृत संस्कृत-अंग्रेजी कोष

वरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन[३९]। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥

\+ \+ \+

दो०—असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्धि नर, पूज्य ते कलियुग माहिं॥

सो०—जे अपकारी चार,[४०] तिन्हकर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

\+ \+ \+

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥

\+ \+ \+

दो०—ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागी लोभ बस, करहिं बिप्र गुरु घात॥
कहहिं सूद्र द्विजन्हसन, हम तुम्हते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँख देखावहिं डाटि॥

\+ \+ \+

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच कोल किरात कलवारा॥
नारि मुई गृह संपत्ति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥

\+ \+ \+

दो०—भए बरनसंकर कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग॥

\+ \+ \+

---

३९. प्रजासन (प्रजा+असन)=(प्रजा+अशन) अश=खाना (to eat-)

४०. चार=चुगल; दूत

छन्द—

\+ \+ \+

नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडंव प्रजानितहीं।

\+ \+ \+

कवि वृंद उदार धुनी न सुनी। गुण दूषक बातन कोपि गुनी।[41]

छन्द—

\+ \+ \+

कलि काल विहाल किए मनुजा नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचारन सीतलता। सब जाति कुजाति भए मंगता।
इरषा परुषा छल लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता।
सब लोग वियोग विसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए।

(४) शिक्षा-पद्धति—

माता-पिता यदि तन को बनाते हैं तो गुरू तन-मन-आत्मा तीनों को सुडौल बनाने वाला होता है। यथार्थ में वही मानव जीवन का रचयिता होता है। इसलिये तुलसी ने जगह-जगह पर गुरु का बड़ा महत्व बताया है यहाँ तक कि उन्होंने मानस को प्रारम्भ करते समय देवों की वन्दना के साथ ही उसकी भी वन्दना उसे ईश्वररूप 'कृपा सिन्धु नररूप हरि' कहकर की है। जो सत्-वृत्ती अर्थात् सत्-युगी हो वही 'कृपा सिन्धु हरि' की उपमा का अधिकारी हो सकता है। भारत में एक समय ऐसा था, जिसका परिचय इतिहासकार वैदिक-काल, ब्राह्मण-काल तथा अरण्य-काल कहकर कराते हैं, जब कुछ ऋषि लोग जन-समुदाय से दूर किसी नदी या वन के निकट अपने आश्रमों में रहा करते थे। शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थी बाल्यकाल में नियत अवस्था के समय इन आश्रमों में प्रवेश करते थे।

---

४१. 'धुनी' के स्थान में 'दुनी' और 'बात' के स्थान में 'ब्रात' पाठ भी है। कोपि=(कः+अपि) अर्थात् कः=कोई, कौन; अपि=भी। इस तरह 'कोपि'=कोई भी

इस तरह ऋषि और शिष्यों का एक ऐसा कुल बन जाता था जैसे माता-पिता के साथ घर का कौटुम्बिक कुल रहता है। गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध शिष्यों की लगभग २५ वर्ष की अवस्था तक पिता-पुत्र जैसा निस्स्वार्थ प्रेम पर आधारित रहता था। शिष्य गुरु की सेवा कर तत्त्व-विद्या, शस्त्र-विद्या तथा जीवनोपयोगी अन्य विद्यायें अपनी अपनी योग्यता एवं स्वभाव के अनुकूल ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए सीखा करते थे। इस तरह विद्याओं में पारांगत होने के पश्चात् वे गृहस्थाश्रमी बनते थे। शिक्षा निःशुल्क रहती थी। राज्य-सत्ता का उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं रहता था। राजा को उससे कोई डर भी नहीं रहता था क्योंकि उसमें धर्म, न्याय और शान्ति-पाठ की ही प्रधानता रहती थी। गुरु को द्रव्य-मोह नहीं सताता था। उसकी व्यवस्था इतनी रहती थी कि उसका गुरु शिष्य-कुल भोजन-वस्त्र पास के और शिष्यगण धर्म से सम्पुटित कला वा विज्ञान में विद्वान् हों। भोजन-सामग्री की पूर्ति शिष्यगण भिक्षा-वृत्ति के द्वारा और जंगल से ईंधन लाकर किया करते थे। जब ब्राह्मण और अरण्य काल के पश्चात् जैन-काल और बौद्ध-काल का प्रसार हुआ तो उपरोक्त ऋषिकुल वा गुरुकुलों को धक्का लगा और उनके स्थान में मठों की प्रधानता हुई जिनमें 'मुनियों' तथा 'भिक्षुओं' का वास होने लगा एवं नालन्दा जैसे कुछ महाविद्यालयों की स्थापना भी हुई। इन मठों में भी विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। परन्तु आक्रमणी मुसलमानों एवं मुसलमानी राज्यों की साम्प्रदायिक कट्टरता ने इन मठों वा महाविद्यालयों को धूल में मिला दिया और भारतीय शिक्षा-पद्धति का अन्त कर दिया, जिससे भारतीय जीवन अपनी प्राचीन धार्मिक संस्कृति से हाथ धो बैठा। गुरुओं के स्थान में मौलवियों, `दज्ञ वा शास्त्रियों के स्थान में हाफ़िज़ों, पाली वा संस्कृत के स्थान में अरबी वा फ़ारसी जन-सम्पर्क से दूरस्थ ब्रह्मचारियों के कुल आश्रम-मठों के स्थान में विलास-वैभव-पूर्ण नगरों में कुछ इक्के-दुक्के मदरसों, धर्म के स्थान में पन्थों, एवं रहस्यमय तत्त्वज्ञान के स्थान में लैला-मजनू आदि जैसी किस्सा-कहानियों की बाढ़ बढ़ी। शिक्षा न धर्म प्रधान रही,

न निःशुल्क। वह पेटार्थी हो गई। गुरुने शुल्क या वेतन लिया; माता-पिता ने बालकों को नौकरियों तथा द्रव्य-संचय के हेतु राज-भाषायें पढ़ाई-लिखाई और शिष्य भी गुरु को वेतन पाने वाले नौकर समझने लगे। ऐसी परिस्थिति में गुरु-शिष्य का जोड़ा ऐसा ही समझो मानो बहिरा-अंधरा का संयोग मिल गया हो। तब मानव धर्म के जिज्ञासु को 'बोधमयंशंकर-रूपिणम्' अथवा 'महामोहतमपुंज, जासुवचन रविकर-निकर' वाला सद्-गुरु का मिलना कठिन हो रहा था। अगर कहीं भूला-भटका एकाध निस्स्वार्थ योग्य गुरु मिल भी जाए तो उसे अनुकूल शिष्यों का मिलना कठिन हो रहा था, क्योंकि उन दिनों जिज्ञासुओं में अभिमान, दर्प, दम्भ, कपट, क्रोध, कुतर्क आदि की ही प्रधानता दिखाई देती थी, जैसा कि तुलसी-दास जी ने कागभुशुंड जी के मुख से उनकी भूल-स्वीकार के रूप में कहलवाया है—

सो०—"गुरु नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध, दंभिहि नीति कि भावई॥"

\+ \+ \+

"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरुहित कहहि न मोहि सोहाई॥"[42]

अतः तुलसी के काल में साधारणतया सद्गुण, सद्शिष्यों तथा सद्-शिक्षा का अभाव था और पेटार्थ, अर्थात् धर्मक्षीण लौकिक जीवन के पीछे ही लोग मरे जाते थे, जैसा उन्होंने निम्न पक्तियों में व्यक्त किया है—

"गुरु शिष बधिर अंध करलेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा।
हरइ शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महुँ परई॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदरभरै सोइ धर्म सिखावहिं॥"[43]

---

४२. पूरा वृत्तान्त देखने के लिये देखो मानस, उ० कां० दोहा १०५; से १०९ तक

४३. मानस, उ० कां० ९८ (ख)।६-८

(५) धार्मिक पद्धति—

तुलसी-कालीन धार्मिक पद्धति को उचित प्रकार से जानने के लिये उसका परिचय दो दृष्टिकोणों से करना चाहिये—एक ऐतिहासिक दृष्टि-कोण और दूसरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण। इतिहासज्ञ का कहना है कि आदि-काल में मनुष्य पाशविक अर्थात् वन्य-जीवन की स्थिति में था। उस समय वह पशुओं के समान अकेला-दुकेला विचरण कर अपना जीवन व्यतीत करता था। इसलिये उस स्थिति में वह अपने आस-पास के कुछ आश्चर्य-प्रद, भयप्रद, रुचिप्रद अथवा जीवनोपयोगी प्राकृतिक निर्जीव पदार्थों एवं पशु-पक्षी आदि सजीवों को मान्यता देता था। मान्यता ही पूजा का आधार है जो कई रूपों में प्रकट की जाती है। धर्मवृत्ति का यही प्रथम स्वरूप था जब कि तत्कालीन मनुष्यों ने पहाड़, नदी आदि निर्जीव पदार्थों तथा सिंह, वृषभ, हंस, गरुड़, मोर आदि सजीव पशु-पक्षियों का पूजन करना शुरू किया। इस आदि-काल के बाद जब पुरुष-नारी की काम-वासना के कारण सन्तानोत्पत्ति हुई तो मातृ-कुल (matriarchal family) का युग आया, क्योंकि उस समय सन्तान के पालन-पोषण-रक्षण आदि का भार माता ही पर रहता था। इसलिये स्वाभाविकतः सन्तान के हृदय में माता के प्रति अधिक श्रद्धायुक्त स्नेह उठा और तभी से, हमारा अनुमान है, मातृ-पूजन अथवा 'देवीमाता' (mother-goddess) की उपासना प्रारम्भ हुई। इसके पश्चात् जब पुरुष-नारी का सम्बन्ध कुछ स्थायी रूप से होने लगा तो सन्तान के प्रति पिता के उत्तरदायित्व और स्वामित्व का समय आया। इस काल को पितृकुल (Patriarchal family) का युग कहते हैं। सन्तान और पिता के इस सम्बन्ध से प्रभावित होकर तत्कालीन लोगों ने यह अनुमान लगाया कि समस्त पशु-वर्ग (man is an animal मनुष्य पशु है) का भी उत्पादक वा स्वामी कोई न कोई पिता जैसा देव होना चाहिये। यही 'पाशुपति' (Lord of animals) कहाया चूंकि कृषी-प्रधान भारत में बैल (वृषभ) की प्रधानता और उपयोगिता सदा से रही है इसलिये हमारे अनुमान से उस 'पाशुपति' के स्वामित्व के

प्रदर्शनार्थ उसे पशुओं के प्रतिनिधित्व के रूप में 'नन्दी' (वृषभ) पर सवार कराया गया। इस तरह आदि-वासियों ने 'पाशुपति' की पूजा करना प्रारम्भ की। परन्तु जब नस्ल और वासस्थान आदि की समता के कारण ुलों (families) ने विस्तृत कौम या जाति (tribes) का रूप धारण किया तो उत्पत्ति और स्वामित्व दोनों की दृष्टि से माता-पिता दोनों का महत्त्व विस्तृत रूप (extensive form) में सम-स्तर पर दिखाई देने लगा, और उन दोनों का पूजन 'योनि और लिंग' की प्रतिमाओं के रूप में होने लगा। तब से उक्त 'पाशुपति' देव का नाम महा-देव (महादेव) पड़ जाना प्रतीत होता है, जो 'नन्दी-सहित योनि-लिंग' की शिलांकित मूर्ति के रूप में पूज्य बना। इसी बीच में पाश्चात्य ऐतिहासिक मत से प्रभावित आधुनिक इतिहासज्ञ के कथनानुसार मध्य एशिया से आर्यों के जत्थे हिन्दुस्थान में आने लगे और उसको ब्रह्मावर्त अथवा आर्यावर्त नाम दिया।[४४] आर्य-लोग आदि-वासियों से अधिक सांस्कृतिक और अध्यात्म-ज्ञानी थे। उनके आने से वैदिक काल शुरू हुआ। वेदों में कहीं भी माता देवी वा योनि-लिंग रूप पाशुपति की पूजन का उल्लेख नहीं आया।[४५] उसमें सूक्ष्मतत्त्वों के प्रतीक प्राकृतिक दृश्यों जल-अग्नि-वायु-आदि पंच-भूतों तथा पंचेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक सूक्ष्म देव-देवियों की प्रतिष्ठा थी, जैसे सूर्य, द्यौ, उषा आदि, वरुण, मरुतगण आदि तथा सावित्री, सरस्वती आदि। धीरे-धीरे मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक समस्त अंगोपांगों में भी दिव्य-शक्तियों का अनुभाव देव-देवियों के नामों द्वारा प्रकट होता गया। इसी के साथ-साथ समस्त सृष्टि की त्रिविध नियति को प्रदर्शन करने वाले

---

४४. मध्य-एशिया से आने का अनुसन्धान कुछ लोगों ने गलत सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि आर्यों का आदि-निवास उत्तरीय ध्रुव था। एक लेखक ने यह बताया है कि महाभारत वन पर्व १८७ से प्रतीत होता है कि आर्यों की आदि-भूमि हिमालय थी।

४५. डॉ० ईश्वरीप्रसाद कृत History of india पृ० १७

पीड़ित ग्रामवासियों को देख 'महामारी' या 'ग्राम देवी' वा कुल-देवी की कल्पनाएँ बनीं और वे ही पूजी जाने लगीं। इसी तरह वरुण, मरुद्गण आदि देवताओं की प्रतिष्ठापनाएँ दैविक तथा भौतिक तापों से मुक्त होने तथा तत्सम्बन्धी समृद्धि-सुख प्राप्त करने के अभिप्राय से हुईं। इस प्रकार तुलसी-काल में अध्यात्मज्ञ की दृष्टि से भी कोटियों देवताओं की प्रतिष्ठा हिन्दू धर्म में प्रस्तुत थी। सनातन हिन्दू धर्म में तैंतीस कोटि देवताओं की प्रतिष्ठा मानी जाती है। कोई-कोई इसका अर्थ तेतीस करोड़ करते हैं। कुछ लोगों ने व्यावहारिकता दर्शाने के लिए बाद में यह कहना शुरू किया कि 'तेतीस कोटि' शब्दों में भारतवर्ष की तत्कालीन तेतीस करोड़ जन-संख्या का भाव निहित है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लोग 'कोटि' का अर्थ 'श्रेणी' या 'विभाग' करते हैं। इसलिए उनके मन्तव्यानुसार सनातन धर्म ने समस्त देव-देवियों की गणना तेतीस विभागों में की है। हम इसी अर्थ को अधिक उपयुक्त मानते हैं। परन्तु देवताओं की इतनी अधिक संख्या होने पर भी सनातन धर्म सर्वव्याप्त एकमात्र सत्ता को ही प्रधानता देता है। देवता उस सत्ता के केवल अवयव-सूचक हैं।

इतिहासज्ञ और अध्यात्मज्ञ दोनों के पूजा-प्रधान धर्म-विषयक अनुसन्धान यद्यपि एक समान प्रतीत होते हैं, तथापि उनमें मूलतः भूमि-आकाश जैसा भेद है। एक ने लिया है पाश्चात्य तत्त्व-विद्या का आधार, जो भौतिकवाद है; और दूसरे ने लिया है भारतीय आर्यों की तत्त्व-विद्या का आधार, जिसे अध्यात्मवाद कहते हैं। भौतिकवाद स्थूल रूपों (crude forms) से सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतना (finest soul or Intelligence) की उत्पत्ति और विकास की बात करता है, परन्तु अध्यात्मवाद चेतना की उत्पत्ति और विकास वाली बात को नहीं मानता। वह कहता है कि चेतना स्वयं सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहती है। उससे सब की उत्पत्ति होती है, अथवा यह कहिए, उसी से सब कुछ प्रकट होता है न कि वह किसी के द्वारा उत्पन्न या प्रकट किया जाता है। शास्त्रीय शब्दों में वह 'स्वयंभूः' और 'परिभूः' है। वह अपने आप 'पूर्ण' भी है। इसलिए 'पूर्ण' का विकास कहना

मूर्खता है। विकास 'अपूर्ण' का ही हो सकता है। अतः अध्यात्मवाद का सिद्धान्त ऐतिहासिक सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। वह चेतना को 'स्वयं पूर्ण', 'स्वयं प्रकाश' आदि कह कर यह कहता है कि जिस प्रकार मेघों के आवर्तों से सूर्य का प्रकाश ढक जाता है उसी प्रकार चेतना का प्रकाश अज्ञान रूपी तम के आच्छादन से ढका रहता है। जिस जिस तरह जितनी-जितनी यह अज्ञान रूपी घटा घटती जाती है उसी-उसी क्रम से चेतना का प्रकाश उघड़ता जाता है, जिसे तुलसी ने'—उघरहिं विमल विलोचन हिय के' इन थोड़े से ही शब्दों द्वारा व्यक्त कर दिया है। यही है 'निगमागम-सम्मत मत' जिसे तुलसी ने मानस लिखते समय अपना मार्ग-प्रदर्शक बना रखा था। इसी में सनातन और शाश्वत सत्य है। दुखों से मुक्त होने न होने का काम उसने दुखी ही के हाथ में सौंप दिया है—भूतों के अधीन नहीं रखा। इसलिए मनुष्य को अपने शीघ्रोद्धार की लहलहाती आशा इसी में मिलती है, क्योंकि उसके हृदय में बाह्यान्तर आत्मा के पूर्णत्व की गूंज भरी जाती है, जैसा कि निम्न मंत्र में व्यक्त किया गया है—

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

अर्थात् 'ओं, वह पूर्ण है, यह (तू) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण ही होता है और फिर भी पूर्ण ही बच रहता है।'

यही भारतीय हिन्दुओं का धर्म है, और यही उनकी विद्या है, जैसा कि तत्त्वज्ञानी स्वामी विवेकानन्द ने कहा है 'Religion is the manifestation of the Divinity already in man' अर्थात् 'मनुष्य में जो ईश्वरत्व पहले से विद्यमान रहता है उसी के प्रकट होने का नाम धर्म है और 'Education is the manifestation of the perfection already in man' अर्थात् मनुष्य में जो पूर्णता पहले से विद्यमान रहती है उसी के प्रकट होने का नाम विद्या

है।[४६] ऐसी चेतना को, जिससे सब की उत्पत्ति हो और सब चेष्टित हों (अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते)[४७] तथा जिस एक से सर्व लोक इस प्रकार प्रकाशित हों जैसे सूर्य से यह लोक प्रकाशित होता है। (यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः)[४८] यदि कोई कहें कि वह भौतिकता अथवा पार्थिवता (materialism) के प्रतीक मानव तनु के आधार को लेकर उत्पन्न और विकसित होता है तो ऐसे लोग हिन्दू-धर्म-तत्त्वज्ञों की दृष्टि में अति प्राचीन काल से ही मूर्ख कहे जाते हैं—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम्॥"[४९]

जिस देश या जाति में जैसे सिद्धान्त का निर्माण कर लिया जाता है वैसी ही वहां उसे कार्य रूप में व्यवहृत करने के लिए साधनाएँ ढूंढ़ी जाती हैं। हिन्दू समाज ने भी अपने वेद-वेदांगों तथा, अन्य विविध प्रकार के शास्त्रों में उन साधनाओं का विशद उल्लेख वा विवेचन किया है। इस आत्म-सिद्धान्त तथा तद्विषयक साधनाओं पर आधारित आर्य-धर्म अथवा आर्य-सभ्यता का सूर्य जब मध्याह्न काल जैसा तप चुका, जब ब्राह्मण कालीन यज्ञ-यागादि वाले कर्मठों, उपनिषदकालीन ज्ञानियों, अरण्य-कालीन तपस्वियों तथा द्वैताद्वैतास्मित-प्रतिपादकों एवं शाक्त-शैव-वैष्णवी उपासकों की मैं-मैं, तू-तू की खींचातानी मची, एवं जब वर्णाश्रम धर्म से लोग विमुख होते गये, तब सिद्धान्त और व्यवहार का योग मिट गया अर्थात् धर्म और कर्म का सामञ्जस्य टूट गया। फलतः समाज में अकर्मण्यता, अधार्मिकता तथा हिंसात्मक जीवन की बाढ़ बढ़ी। ऐसे समय पर हिंसा को

---

४६. Complete Works of Swami Vivekananda (Mayavati Memorial Edition) Vol. I. Front page.

४७. गीता १०।८

४८. वही १३।३३

४९. वही ९।११

रोकने के लिए जैन मत और बौद्ध मत उठे। उनकी अहिंसा भरी तान इतनी प्रबलता से छिड़ी कि लोग हिंसा-अहिंसा में भेद करना ही भूल गये। उन्हें यह ध्यान नहीं रहा कि लोक धर्म की दृष्टि से कभी-कभी प्रत्यक्ष हिंसा अहिंसा की गणना में आती है और कभी-कभी प्रत्यक्ष अहिंसा हिंसा की गणना में। वे यह भूल गये कि स्वार्थ अथवा ममत्व को त्याग कर लोक-संग्रह अथवा लोक-सेवा करने में यदि कोई प्रत्यक्षतः हिंस्र प्रतीत होनेवाला कर्म करना ही पड़े तो वह धर्म ही माना जाता है। सारांश यह कि इन मतों की बाढ़ भी कर्म-ज्ञान के समन्वय से सम्पुटित लोक धर्म के प्रतिपालक उत्पन्न न कर सकी और समाज शिथिल वा छिन्न-भिन्न बनता ही गया। गड़बड़ी भरे ऐसे अनुकूल समय को पाकर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हुए तथा धीरे-धीरे उनके राज्य स्थापित होते गये। अन्त में मुगल बादशाहत जम गई। भौगोलिक वा राजनैतिक अधिकारों के साथ-साथ उन्होंने हिन्दुओं के धार्मिक विचारों पर भी अधिकार जमाने के प्रयत्न किये। जब यह देखा गया कि छल-बल-कल से जाति-परिवर्तन कराया जा कर हिन्दुओं की जन-संख्या तो घटाई जा सकती है, पर चिरकाल से हृदय में परिपोषित उनकी धर्म-भावना परिवर्तित नहीं की जा सकती तो मुसलिम राज्यों और बादशाही दरबार के खैरख्वाही और पिट्ठुओं के द्वारा धर्म के एकीकरण के नाम पर मुसलमान-हिन्दुओं को एक घाट उतारने के नारे उठाये गये। इनमें से सूफी मतवालों का नम्बर पहला है। प्रथम आक्रमण-कारी मुसलमानों के साथ ही, अथवा उनके कुछ पीछे सातवीं शताब्दी में उनका हिन्दुस्थान में आना प्रारम्भ हो गया था। काल-क्रमानुसार उसके कई प्रवर्तक भारत में होते गये और हर एक के नाम के पीछे उसके नाम का पन्थ चल निकला, जैसे जुल्लाबी, चिश्ती, इमामशाही, सुहरावर्दी। इनका मूल सिद्धान्त था, हर धर्म से जो अच्छा दिखे वह ले लेना तथा दो वियोगी प्रेमियों जैसी किस्सा-कहानियों के द्वारा ईश्वर की ओर सद्वृति का जागृत करना। इनका प्रभाव तना बढ़ गया था कि "सत्रहवें शतक के मध्य भाग में मुहम्मद शहदुल्ला नामक सूफी प्रचारक को कुछ लोग विष्णु का निष्कलंक

दशम अवतार मान कर पूजने को प्रस्तुत थे।"[५०] सूफी इतने लोक-प्रिय क्यों हुए? इसलिए कि उन्हें समय अनुकूल मिला। मुसलिम-काल के अत्याचारों से हिन्दू जनता सन्तप्त थी। वह निराश थी। सनातनी धर्म वा व्यवस्था से उसको सान्त्वना का मिलना दुस्तर सा हो रहा था, पर साथ ही उसे मुसलिम धर्म से घृणा भी थी। इसलिए सूफियों के नवीन पन्थ में उन्हें अपने उद्धार की आशा दिखी। इस नैराश्य-काल के समय आर्य-धर्म के कुछ विद्वान पंडितों ने जब यह देखा कि हिन्दू जनता उसमें विहित ईश्वरवाद से निराश होकर सूफी मत की ओर प्रवृत हो रही है तो उन्होंने भी अपनी भारतीय शास्त्रीय पद्धति के आधार पर अपने-अपने अनुरूप जन-जीवन में आशालता को पल्लवित करने में कमी नहीं की। सब से पहले गुरु मछंदरनाथ के शिष्य गोरखनाथ का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने ११ वीं शताब्दी में हठ योग अर्थात् आसनयम-नियम-प्राणायाम आदि क्रियाओं द्वारा मन को वश में करने वा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का प्रचार किया। इसके बाद १२ वीं शताब्दी में दक्षिण में स्वामी रामानुजाचार्य ने संस्कृत भाषा में ब्राह्मण आदि विद्वान लोगों का ध्यान नारायणी अथवा वैष्णवी साकार उपासना की ओर आकृष्ट किया। फिर गुजरात में मध्वाचार्य ने १४ वीं शताब्दी में द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय की नींव डाली। इसके पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में रामानन्द ने, जो रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में थे, हिन्दी भाषा में विष्णु के अवतार राम की भक्ति को प्रधानता दी। इसके बाद सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में एक तैलंग ब्राह्मण बल्लभाचार्य ने मथुरा में कृष्ण की सगुणोपासना का प्रचार किया। परन्तु जब इस प्राचीन शास्त्रीय पद्धतिवाली सगुणोपासना से उस नैराश्य काल में, जिसकी विकरालता मुसलिम अत्याचारों के कारण बढ़ती ही जाती थी,

---

५०. 'मिडिईवल मिस्टीसिज्म आव इन्डिया' (Mediaeval Mysticism of India), पृष्ट ३२ के आधार पर 'तुलसीदास और उनका युग' पृ० ४०।

हिन्दुओं को अधिक सन्तोष होता हुआ नहीं दिखाई दिया, "तब एक ऐसे सामान्य-भक्ति मार्ग की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे हिन्दू, मुसलमान, छूत, अछूत, ऊंच, नीच सभी अपना सकें। यही आगे चल कर 'निर्गुण-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।......बंगाल में सब से पहले (बल्लभाचार्य के जामातृ) चैतन्य महाप्रभु ने इस भाव की नीव डाली। इधर महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में नामदेव और रामानन्द जी ने इसी भाव का सूत्र पात किया।"[५१] चैतन्य, नामदेव और रामानन्द ने जाति-पांति, ऊंच-नीच का बन्धन तोड़ने का प्रचार किया। "यद्यपि इन्होंने समय समय पर मूर्ति-पूजा आदि की निःसारता बताई पर इस देश की हिन्दू जनता में सगुण उपासना का भाव इतना बद्धमूल हो गया था कि खुले आम इसका विरोध करने का साहस कबीर के पहले शायद किसी को नहीं हुआ।"[५२] अतः सूफियों के अतिरिक्त निर्गुण-पन्थ' के प्रधान-प्रचारक कबीर-पन्थी, नानक-पन्थी और दादू-पन्थी हुए। कबीर का जन्म लगभग सन् १४०० में और मृत्यु लगभग सन् १५२० में हुई। नानक का जन्म सन् १४६९ में और दादू का सन् १५४५ में या उसके लगभग हुआ। कबीर का प्रचार प्रथमतः उत्तर-पूर्वी भारत में, नानक का पंजाब में और दादू का राजपूताना में हुआ, क्योंकि वे उक्त-उक्त स्थानों के वासी थे। कबीर की रचनाओं का संकलन 'साखी' और 'रमैनी' नाम के ग्रन्थों में हुआ है, तथा गुरु नानक की रचनायें 'आदि-ग्रन्थ' में संकलित की गई हैं, जिसमें अन्य महात्माओं के भजनों का भी संकलन है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रैदास (चमार) और सदना (कसाई) भी रामानन्द जी के शिष्य और कबीर के समकालीन थे। इन पन्थों ने गोरखनाथियों का हठयोग तो नहीं अपनाया, पर उनके आत्मवाद से अवश्य प्रभावित हुए। इन पन्थों का मूल उद्देश था हिन्दू-मुसलमानों का

---

५१. 'हिन्दी के कवि और काव्य', भाग २, (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) पृ० ३–४

५२. वही पृ० ५

पारस्परिक विरोध मिटाकर उनका एकीकरण करना। इस उद्देश से प्रेरित हो उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित अवतारवाद या सगुणोपासना, मूर्ति-पूजा तथा जाति-भेद का विरोध किया और ज्ञान-मार्गियों की भांति ईश्वर के निर्गुण भाव की प्रतिष्ठा करने के लिए उपदेश दिये। उन्होंने तीर्थों आदि में जाना भी निरर्थक बताया। मन्दिर-मसजिदों की अनावश्यकता भी बताई। उनके इस प्रचार से यद्यपि हिन्दू-मुसलमानों का मेल-जोल बढ़ा और मन-मुटाव कुछ कम हुआ, तथापि उससे लोगों की वृत्ति लोक कर्म की ओर से उदासीन हो चली। हिन्दुओं के वर्णाश्रम धर्म को धक्का लगा। किसी भी पन्थ के बन कर निरक्षर वा मूर्ख लोग जीवनोपयोगी ज्ञानी बनने की शान भरने लगे, मर्यादा भंग होने लगी और धर्मशास्त्रों का पढ़ना-लिखना तथा उनकी बात करना पाप समान लगने लगा। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि कबीर आदि इन महानुभावों की भावनायें दूषित थीं। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि लौकिक जीवन की दृष्टि से उनकी साधनायें दोषपूर्ण सिद्ध हुई। भक्ति का जो स्वरूप इन लोगों ने प्रस्तुत किया वह अपूर्ण, एकांगी और विकृत है। मनुष्य, स्वभाव से सगुण होने के कारण, अपने जीवन में निर्गुणी हो ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है कि "मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिए अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नए नए पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदान्त के दो-चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि सब कुछ था; पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य-धर्म का प्रधान लक्षण है।"[५३] एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप वह है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से निर्गुण-सगुण अथवा ज्ञान-कर्म दोनों का यथोचित सामञ्जस्य न रखा जाय। जहां यह सामञ्जस्य टूटा वहां धर्म-क्षेत्रीय मर्यादा भंग हुई। इन दोनों

---

५३. तुलसी ग्रन्थावली, खंड ३, पृ० ९९-१००

के बीच समन्वय स्थापित करने वाली विधि का नाम 'भक्ति' है। यदि विधिवत भक्ति नहीं हुई तो धर्म-व्यवस्था बिगड़ी, और धर्म-व्यवस्था बिगड़ जाने से समाज के अन्य सभी क्षेत्रों में विषमता का विस्तार हो जाता है, जिससे सारा समाज रसातल की ओर खिसकता जाता है। विधिवत भक्ति से तुलसी का अभिप्राय है, श्रुति-शास्त्र-सम्मत भक्ति, क्योंकि श्रुति शास्त्र यथार्थ में कर्तव्यनिष्ठ पूर्वजों द्वारा अनुभूति की हुई सत्यताओं वा विधियों का सार-संग्रह होता है। उपरोक्त विषम परिस्थितियों को देख तुलसी ने जो चिन्ता प्रकट की है वह संक्षिप्त रूप में यों है—

दो०—"श्रुति संमत हरि भक्तिपथ, संजुत विरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहवस, कल्पहिं पन्थ अनेक॥"[५४]

इस तरह के कल्पित पन्थवाले वेद-पुराण आदि शुभ ग्रन्थों में कथित भक्ति की विधियों को त्याग नये प्रचार से उसका निरूपण करते हैं—

दो०—"साखी सबदी दोहरा, कहि कितनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं बेद पुरान॥"[५५]

\+ \+ \+

"सकल धरम विपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन, दुर पुरान सुभ ग्रंथ॥"[५६]

इस प्रकार के पन्थों के कारण लोगों में अनधिकार-चेष्टा, उद्दण्डता, दम्भ, मोहादि का प्रसार हो रहा था—

---

५४. मानस उ० कां० १०० (ख); दोहावली ५५५ (दोहावली में तीसरे पदक के स्थान में यह पाठ है "तेहि परिहरहिं विमोह वस')

५५. दोहावली, ५५४ (पहले पद में कबीर, नानक तथा दादू के पन्थों की ओर, और दूसरे पद में सूफी-पन्थ की ओर संकेत है,)

५६. दोहावली, ५५६

दो०—"ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारिनर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागति मोह बस, करहिं विप्र-गुरु-घात॥
बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाँटि॥"[५७]

इन पन्थों की ओर लोग क्यों दौड़ने लग गये थे? इसलिए कि उन्हें सगुण स्वरूप भगवान के नाना प्रकार के चरित्रों को समझने में कठिनता और निर्गुण स्वरूप को समझने में सरलता की प्रतीति हुई—

दो०—"काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तम कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जानहिं कोई।
सुगम अगमनाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥"[५८]

निर्गुण को सुलभ समझ उस ओर भगदड़ मचने से देश वा समाज में जो दुष्परिणाम हो रहे थे, वे इस प्रकार हैं—

दो०—"करमठ कठमलिया कहें, ज्ञानी ज्ञान विहीन।"[५९]

\+ \+ \+

छं०—"जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी-जीवन जानन जान्यो, तौ जान कहावत जान्यो कहा है।"[६०]

\+ \+ \+

"बरन-धरम गयो, आस्रम निवास तज्यो,
त्रास न चकित सो परावनो परो सो है।

---

५७. मानस, उ० कां० ९९ (क) (ख); दोहावली ५५२, ५५३
५८. वही ७३ (क) (ख)
५९. वही ९९
६०. कवितावली, उ० कां० ३९

करम उपासना कुवासना विनास्यो, ज्ञान,
वचन, विराग वेष, जगत हरो सो हैं॥'
गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग तें सो केलि ही छरो सो है॥"[६१]

\+ + +

"वेद पुरान विहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली हैं।
काल कराल नृपाल कृपाल न राजसमाज बड़ोई छली है॥
वर्न-विभाग न आस्रम-धर्म दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है।"[६२]

\+ + +

"दम दुर्गम दान दया मख कर्म सुधर्म अधीन सबै धन को।
तप तीरथ साधन जोग विरागसों होइ नहीं दृढ़ता तन को॥
कलि काल कराल में, राम कपालु! यहै अवलंब बड़ो मन को।
तुलसी सब संजम हीन सबै, इकनाम अधार सदाजन को॥"[६३]

\+ + +

"आगम वेद पुरान बखानत, मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपको, ईस कहावत सिद्धि सयाने॥"[६४]

समाज की इस प्रकार की दुर्व्यवस्था को देख कर तुलसीदास जी से नहीं रहा गया, और इन निर्गुणियों को आह्वान करते हुए यह बताया कि बिना सगुण उपासना के निर्गुणी कहाना असम्भव है। नकारात्मक (negative) भाव और सकारात्मक (Positive) भाव दोनों का जोड़ा है—

दो०—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसी दास॥

६१. वही ८४
६२. वही ८५
६३. वही ८७
६४. वही १०५

अंक अगुन, आखर सगुन, सामुझि उभय प्रकार।
खोए राखे आपुभल, तुलसी चारु विचार"[६५]

अर्थात् ऐसा कौन सखी का लाल हो सकता है, तुलसीदास जी कहते हैं, जो अज्ञान के अस्तित्व-बिना ज्ञान का, तम के अस्तित्व बिना प्रकाश का, तथा सगुण के अस्तित्व-बिना निर्गुण का प्रतिपादन कर सके? यदि कोई ऐसा समर्थ हो, तो अलबत्ता, तुलसी कहते हैं, हम उसे 'गुरु' मान लें। यथार्थ बात यह है कि निर्गुण-सगुण का 'अंक-अक्षर' के समान अपरिहार्य जोड़ा है। या तो निर्गुण-सगुण, दोनों गुणों के परे (खोए) हो कर मोक्ष-पद प्राप्त कर संसार में जन्म ही न लो, या संसार में देह पा कर दोनों निर्गुण-सगुण को साथ ले कर (राखे) चलो तभी भलाई हो सकती है। यही दो प्रकार का विचार, तुलसीदास जी का कथन है, उत्तम विचार है। तात्पर्य यह कि नकारात्मक भाव सकारात्मक भाव के बिना आ ही नहीं सकता।

उपरोक्त अन्तिम दोहा में निर्गुण और सगुण का भाव दर्शाने के लिए अंक और अक्षर की उपमा दी है। किसी अच्छे शब्द-कोष को देखिये तो आपको 'अंक' का अर्थ 'चिह्न', 'संकेत' एवं 'रेखा' मिलता है।[६६] रेखा-गणित का हर विद्यार्थी इस बात को भली भांति जानता है कि 'विन्दु' वा 'रेखा' दोनों कल्पनात्मक निराकार स्वरूप संकेत मात्र होते हैं, अर्थात् यथार्थतः उनकी लम्बाई, चौड़ाई-रूप-आकार आदि कुछ नहीं होते। किसी पदार्थ के समझने या चित्रण करने में हमें उनकी कल्पना करनी पड़ती है। यही भाव 'निर्गुण' शब्द में निहित है, जिसे शास्त्रों में 'अशून्यं शून्य कल्पितम्' कहा है, जैसा हम पूर्व में कह आये हैं। इसके विपरीत 'आखर' अर्थात् अक्षर का रूप (form) होता है। इसलिए उसे सगुण की उपमा दी है। सारांश यह है कि जहां तक देह है वहां तक त्रिगुणात्मक रूप का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। गुणों के परे पहुंचे कि ब्रह्म स्वरूप हुए, जैसा कि गीता में कहा है—

---

६५. दोहावली, २५०-२५१

६६. चतु० द्वारका प्रसाद कृत 'शब्दार्थ-पारिजात'

"गुणेभ्यश्च परंवेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति"[६७]

यदि तुलसी के इस अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट रूप से जानना हो तो पाठक दोहावली की क्रम-संख्या १०, २००, ३६५ तथा ३६६ को, विशेषकर २०० वें दोहा को, अवश्य पढ़ें और समझें। २०० वें दोहा यह है—

"माया, जीव, सुभाव, गुन, काल, करम, महदादि।
ईस-अंक तें बढ़त सब, ईस-अंक बिनु वादि॥"

(६) साहित्य पद्धति—

साहित्यज्ञों ने साहित्य की दृष्टि से तुलसी-साहित्य के एक-एक कोने को खूब बारीकी से छान-बीन डाला है, और अब प्रायः एक स्वर से यह निश्चय कर लिया है कि तुलसी हिन्दी-साहित्य, विशेषकर हिन्दी-काव्य का—अद्वितीय सम्राट् है। एक समय ऐसा था जब लोग सूरदास की कविता को तुलसी की कविता से उच्च कोटि की मानते थे, और इसलिए 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास' वाले दोहा की रचना हुई। इसके पश्चात् दूसरा समय आया जब साहित्य-परीक्षकों का विचार-परिवर्तन हुआ। उस समय उन्होंने यह निर्णय किया कि यद्यपि सूरदास का काव्य अधिक आनन्दप्रद और माधुर्ययुक्त है, तथापि तुलसी के काव्य में उससे अधिक नैसर्गिक उद्दात लक्षण ((inherent nobility of character) विद्यमान है।[६८] परन्तु साहित्यज्ञों की आलोचनात्मक दृष्टि यहीं स्थिर होकर नहीं रह गई। उसने देखा कि कवि की सच्ची परख करने के लिए न केवल उसके साहित्य का निरीक्षण किया जाय, वरन् यह भी देखा जाय कि उसका हृदय कितना विशाल है तथा उसकी भावुकता कितनी मर्म-स्पर्शी और व्यापक है। इस पर ध्यान जाने से साहित्य-पारखियों की विचारधारा ने फिर एक बार पलटा खाया, और गांधी जैसे—महात्माओं

६७. गीता १४।१९
६८. इम्पीरियल गजिटियर, भाग २, (सन् १९०९) पृ० ४२३

ने यह निश्चय किया कि तुलसीकृत रामायण "निश्चय ही आत्मानुभव की खान (a veritable mine of spiritual experience)[६९] है।" परन्तु मानस को—आत्मानुभव की खान मात्र कहने से तुलसी को सम्मान की वह उच्चतम शिखर नहीं मिली जिस पर अन्य द्रष्टाओं ने उन्हें ले जाकर बैठाया है। यह हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने किया। उन्होंने लिखा है कि हमसे "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय भारती-कंठ भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"[७०] शुक्ल जी का यह निदान दिन-प्रति अन्यान्य नवीन आलोचकों के द्वारा सम्पुटित होता चला आ रहा है, और 'सूर सूर तुलसी ससी' के स्थान में सूरदास ही के मुखारविन्द से यह कहलाया जा रहा है कि उन्होंने अकबर बादशाह के पूछने पर उनके दरबार में यह कहा था कि "गोस्वामी जी की कविता तो कविता है ही नहीं, मैं तो उसे **सर्वोत्तम महामन्त्र** मानता हूं।"[७१]

जिस कविता में लोकोत्थानकारी सन्देश हो वही महामन्त्र कही जाने की अधिकारिणी बन सकती है। उस सन्देश के लोकोपकारी स्वरूप की परख करने के लिए हमें तुलसी-साहित्य को मानव-जीवन के एक समीक्षक की आंखों से देखना होगा, न कि अलंकार-रस आदि में गोते लगानेवाले साहित्य-परीक्षक की दृष्टि से। हमारा ध्यान केवल दो बातों पर रहना चाहिए। एक तो यह कि तुलसी का आदर्श क्या है, और दूसरे उस आदर्श को जनता में पहुँचाने के लिए उनका माध्यम क्या है। क्रान्तिकारी अथवा

---

६९. **यंग इंडिया** (Young India) **का अंक, ता० ३१-१०-१९२९**

७०. तुलसी ग्रन्थावली, (खं० ३) पृ० २४१

७१. मासिक पत्रिका कल्याण (गोरखपुर) का 'संत कथा अंक' पृ० २७०। (नोट—सम्भव है कि यह कोरी कल्पना हो, परन्तु उससे तुलसी-विषयक महत्ता अवश्य प्रकट होती है—लेखक)

समाज-सेवक ऐसा आदर्श ढूंढ़ता है जो सर्व-जन-हितकारी हो, और वह माध्यम भी ऐसा पकड़ता है जो अधिक से अधिक व्यापक, मधुर और सुगम हो। तुलसी ने जिस आदर्श को चुना है उसकी व्यापकता के विषय में तो आगे ही कहा जा सकेगा। यहां केवल उनके माध्यम के बारे में जानना आवश्यक है। हिन्दी भाषा उनका माध्यम है। इसलिए उस समय जब उन्होंने इस लोकोपकारी कर्म-क्षेत्र में कदम रखना चाहा तब भारतवर्ष में हिन्दी-साहित्य की गति-विधि क्या थी, यह संक्षेप में जान लेना आवश्यक है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि वे उससे प्रभावित हुए या नहीं, और ए तो किस प्रकार और कितने?

जब संसार अनादि है तो कहा ही नहीं जा सकता कि आदि-काल में भारत देश में कौन-कौन सी भाषायें कहां-कहां बोली जाती थीं। परन्तु विद्वान् लोगों ने वैदिक काल से प्रारम्भ कर तत्सम्बन्धी अनुसन्धान लगाये हैं। इन अनुसन्धानों के अनुसार भारतीयों का प्रथम साहित्य संस्कृत था, जो सर्व-सम्मति से उस काल के एवं उसके सहस्राब्दियों पश्चात् के अन्य देशीय साहित्यों में उच्चतम कोटि का स्वीकार किया जाता है। परन्तु सांसारिक वस्तुएँ काल-चक्र-वश परिवर्तनशील हैं। इसलिए इस प्राकृतिक नियम के अनुसार संस्कृत भाषा का रूप भी क्रमशः परिवर्तित होता गया, और भारत-वर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में उसके भिन्न-भिन्न विकृत रूप प्रकट होने लगे। पहले-पहल ये रूप, जैसा कि सदैव होता है, बोली की भाषा में प्रकट हुए और फिर इस बोली की भाषा के आधार पर लिखित भाषा में प्रकट हुए। इन दोनों प्रकार से प्रकट हुए स्वरूपों को साहित्य-विज्ञ 'प्राकृत' भाषा कहते हैं। परन्तु प्रथम प्रकार का प्राकृत-भाषा-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सलिए साहित्य-शास्त्रियों ने प्राकृत के दो विभाग कर लिये। वे बोली-वाली भाषा को 'प्राकृत' और लिखित को 'अपभ्रंश' अथवा 'देशी भाषा' कहते हैं। यह दूसरा स्वरूप हमें सातवीं शताब्दी के कुछ बौद्ध-साहित्य में, और फिर बाद में कुछ जैन-साहित्य में मिलता है। इस तरह अपभ्रंश नाम्नी प्राकृत के रूप ही आगे चल कर विकसित (विकृत) होते हुए भारत के किसी

भाग में मराठी किसी में बंगाली, किसी में गुजराती, किसी में उड़िया और किसी में हिन्दी भाषा इत्यादि कहाये। भारतवर्ष के धर्म-विषयक साहित्य की एक विशिष्टता यह है कि वह अत्यन्त प्राचीत काल से काव्य प्रधान रहा है। इसलिए हम देखते हैं कि धर्मविषयक संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ पद्यात्मक हैं। इसी तरह बौद्ध सिद्धों ने अपने मत को गीतों के रूप में प्रकट किया, तथा जैन-मतावलम्बियों ने "चरित-काव्य या आख्यान-काव्य के लिए चौपाई-दोहे की पद्धति ग्रहण की।"[७२] तदनन्तर ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी में गोरख-पन्थियों का काल आया। उन्होंने भी अपनी योग-सम्बन्धी साधनाओं वा मत का प्रचार प्रमुखतः तत्कालीन काव्य के ही रूप में किया। इस काल में हिन्दी-काव्य की गति को बढ़ानेवालों में चारण या भाटों की प्रधानता रही। ये लोग अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा में अनेक प्रसंगों को लेकर कवित्तों वा छप्पयों में रचनायें रचकर सुनाया करते थे। इन लोगों के छन्द बहुधा वीररसवाले होते थे और वे स्फुट-स्फुट विषयों पर रचे जाते थे। परन्तु कुछ लोगों ने उसी तर्ज की कविताओं में कुछ प्रबन्ध-काव्य की भी रचनाँयें कीं, जिनमें से 'वीसल देव रासो' और चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'पृथ्वीराज रासो' बारहवीं शताब्दी के अन्त में तत्कालीन बोली की व्रजभाषा में रचा गया था, जब कि 'शौरसेनी प्राकृत' का प्रभाव साहित्य-क्षेत्र से पूरी तरह से नहीं हट पाया था। वीर-गाथा-काल के अनन्तर १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्दियों का युग शुरू हुआ और फिर उनके शिष्य निर्गुण-पन्थ वालों का समय आया। इन्होंने भी काव्य के रूप में अपने मतों का प्रचार किया। इनका साहित्य-भाण्डार विपुल था और उसका प्रभाव-क्षेत्र भी काफी विस्तृत हुआ। इनका साहित्य सन्त-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। सन्त-साहित्य में कबीर-पन्थियों, नानक-पन्थियों ए दादू-पन्थियों के नाम साधारणतया सबों को प्रकट हैं। इन पन्थों की शाखाओं-प्रशाखाओं का प्रभाव उत्तर

७२. तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३८३

भारत, राजस्थान, पंजाब तथा गुजरात तक फैल चुका था। इनके अनुयायी अधिकतर अनपढ़ वा कम पढ़े-लिखे लोग थे। इनके प्रवर्तक भी कम शिक्षित थे। पर वे उच्च कोटि के साधक वा विचारक अवश्य थे। उनकी कवितायें सरल दोहों में होती थीं। कहीं कहीं रागों में कहे हुए पद भी मिलते हैं। उनका ध्यान केवल यह रहता था कि जन-साधारण उनके भावों को समझ ले, भाषा-दोष या कविता-दोष रहें तो भले ही रहें। उपरोक्त कारणों से हमें उनकी रचनाओं में साहित्यिक अशुद्धियां, काव्य-त्रुटियां तथा भाषीय प्रान्तीयता विशेष रूप से मिलती हैं। सन्त-साहित्य के समकालीन सूफी मत-वालों ने तथा अकबर बादशाह के कतिपय दरबारी रहीम आदि ने एवं सूर-दासादि कृष्णोपासकों ने भी हिन्दी-काव्य को उन्नत करने एवं हिन्दी-साहित्य का भारतवर्ष के विभिन्न भागों में प्रसार करने में बड़ा बल और योग दिया। इधर सूफियों ने दोहा-चौपाइयों की तथा रहीम ने दोहा वा बरवै छन्द की शैली स्वीकार की। तो उधर कृष्ण की बाल-लीला-सम्बन्धी भक्तिपूर्ण सूरदास के भजनीक पदों की प्रसिद्ध शैली किसी से छिपी नहीं है। उन पदों में एक ओर तो साहित्यिक शुद्धता और आनन्दप्रद माधुर्य मिलता है, और दूसरी ओर उनसे सगुणोपासना की प्रवृत्ति जागृत होती है, जो निर्गुणी सन्तों के निर्गुण मत को ठेस पहुंचाती है। इस तरह तुलसी-काल तक भारतवर्ष का मूल साहित्य तथा संस्कृत भाषा साधारणतया निस्तेज, निश्चेष्ट तथा निष्प्राण हो चुकी थी। यदि वह कुछ टिमटिमाता था तो वह केवल कुछेक उदरार्थी कथा-वाचकों वा पुरोहित-पुजारियों की वाणी में, एवं धनी-मानियों के आश्रितों की लेखनी में सिकुड़ कर रह गया था। एक ओर संस्कृत-साहित्य के मिटने की क्रिया प्रारम्भ थी, तो दूसरी ओर उसका आश्रय लेकर विविध देशी भाषायें पनप रही थीं। उन सबों में हिन्द्री-साहित्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत था, अर्थात् भारतवर्ष के अधिक भाग में उसी का प्रसार था, हालांकि सभी भागों में उसका स्वरूप एक सा संगठित नहीं था। इस दृष्टि से वह संस्कृत के स्थान में भारत वर्ष की भाषा कहलाने की अधिकारिणी बनती जा रही थी। परन्तु उसके मार्ग में रोड़े अटकानेवाली एक बाधा उठ रही

थी, जो हमारी समझ में, तुलसी की सूक्ष्म-तीक्ष्ण दृष्टि में आये बिना नहीं रही होगी। वह थी 'उर्दू'। मुसलमानों के आगमन के साथ उनकी भाषाओं अरबी, ईरानी वा तुर्की का भी भारत में प्रवेश सात ीं शताब्दी में प्रायः उसी समय हुआ जब बौद्ध साहित्य में प्राकृत (देशी भाषा) अंकुरित हो रही थी। राज्य-सत्ता मुसलमानों के हाथ में थी ही, इसलिए उनकी उक्त भाषाओं को प्रोत्साहन मिला तथा संस्कृत का तिरस्कार होता गया। परन्तु राजगद्दी पर मुसलिम शासकों के वंशों के बदलते रहने के कारण अरबी और तुर्की पीछे रह गई और मुगल काल के प्रारम्भ होने तक ईरानी (फारसी) भाषा ही टिकी रही। इसी बीच में इन विदेशी भाषाओं का देशी भाषाओं से टकराना चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप विदेशी भाषाओं, विशेषकर फारसी भाषा के आश्रय को लेकर कुछ लोगों ने एक नवीन भाषा का सृजन करना प्रारम्भ किया। यह नई भाषा वही है, जिसे उर्दू कहते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, हर भाषा का प्रथम स्वरूप बोली के रूप में प्रकट होता है। इसी तरह उर्दू ने अपना स्वरूप बनाना प्रारम्भ किया और क्रमशः अंकित होने लगी, यहां तक कि वह कविता के रूप में सोलहवीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण भारत में पूर्ण रूप से प्रारम्भिक सिर उठा कर घूरने लगी।[७३] बाद में वह बादशाही राजधानी एवं उत्तर भारत की ओर बढ़ती चली। चूँकि साम्राज्य मुसलमानों का था, इसलिए तुलसी जैसे सूक्ष्म-द्रष्टा के मन में यह भय उत्पन्न हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं कि कहीं ऐसा न हो कि वह राज्य-शासकों की लाड़ली बन देश-भाषा हिन्दी को समय पाकर निगल बैठे। तुलसी के बाद का इतिहास तुलसी की इस सूक्ष्म दर्शिता का प्रमाण कहा जा सकता है। तुलसी-रामायण यदि घर-घर न पहुँचती तो कदाचित् सन् १९४७ में भारत-विभाजन के समय हमारे हाथ में उर्दू ही रह जाती।

जब देशी और विदेशी भाषाओं का साथ-साथ भारत में संचालन

---

७३. इम्पीरियल गजेटियर, भाग २, पृ० ४२९

हुआ तो यह स्वाभाविक था कि हिन्दी भाषा में कुछ शब्द विदेशी भाषाओं के भी आते गये। इस तरह तुलसी के समय हिन्दी में बहुत से अरबी, तुर्की और फारसी के शब्द आ गये थे, जिसके कारण तुलसी की रचनाओं में हमें अनेक स्थानों पर उनका प्रयोग किया गया मिलता है। तुलसीदास जी ने कहीं-कहीं इस प्रकार के शब्दों के रूपों की अपनी हिन्दी-व्याकरण तथा अपने हिन्दी-काव्य के अनुरूप बनाने के अभिप्राय से विभक्तियां-प्रत्यय आदि जोड़ कर आवश्यक परिवर्तन भी कर दिया है, जैसे 'रजा' से 'रजाई', अथवा 'सरीक' से 'सरीकता' इत्यादि। उन्होंने कहीं-कहीं पर इन विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो सामान्यतः प्रचलित नहीं थे, जैसे अरबी का 'हबूब' (पानी का बुलबुला=जन चर्चा), फारसी का 'सालिम' (पराक्रमी), तथा तुर्की का 'वैरख' (झंडा) आदि।[७४] इससे यह प्रतीत होता है कि उन्हें स्वयं विदेशी भाषाओं का अध्ययन या ज्ञान था। एक विद्वान समाज-सुधारक के लिये अपनी भाषा के अतिरिक्त देश में प्रचलित अन्य भाषाओं, विशेष कर राज-भाषाओं का जानना आश्चर्य-जनक नहीं माना जा सकता। जब मुसलमान संस्कृत और हिन्दी को सीखते थे तो तुलसी ने भी अरबी और फारसी को सीखने में कसर न रखी होगी, ऐसा हमारा अनुमान है।

इसलिये सारांश यह है कि जिस समय तुलसी ने लोकोपकारी कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करना चाहा उस समय उन्हें हिन्दी ही एक ऐसी भाषा दिखी जो भारत के अधिक भागों में पढ़ी-लिखी जाती थी। यद्यपि उसके रूप (Form) में सर्वत्र समानता नहीं थी और उसमें प्रान्तीयता के चिन्ह बहुतायत से लक्षित थे, तथापि भाषा के आधार पर एक देशीयता अथवा राष्ट्रीयता लाने वाले अंकुर तुलसी को उसी में दिखे। उन्होंने 'अर्द्ध मागधी प्राकृत' से

---

७४. अरबी और फारसी भाषाओं के जिन प्रचलित वा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग तुलसीदास जी ने किया है उनका एक खासा संग्रह डॉ० दीक्षित की पुस्तक 'तुलसीदास और उनका युग' के दसवें परिच्छेद में दिया है।

विकसित 'अवधी भाषा' को, तथा 'शौरसेनी प्राकृत' से विकसित 'बृजभाषा' को ही उनकी मधुरता और प्रभाव-क्षेत्र की विस्तीर्णता को देख कर अपना माध्यम बनाया। अवधी भाषा का प्रयोग उन्होंने प्रबन्ध-काव्य रामचरित-मानस तथा बरवै रामायण की रचना में किया, और ब्रजभाषा का प्रयोग मुक्तक काव्यवाले कवितावली आदि अन्य ग्रन्थों में किया। एक ओर यदि तत्कालीन हिन्दी-साहित्य (हिन्दी-काव्य) के रूप में असमानता, एकांगीपन तथा छन्द-शास्त्रीय-उल्लंघन विद्यमान था, तो दूसरी ओर उसमें विहित कर्तव्यनिष्ठता भी पंगु थी। किसी काल में किसी अंगविशेष पर ध्यान रखा तो किसी दूसरे काल में किसी दूसरे अंग पर। बौद्ध और जैनियों ने अपने साहित्य को अहिंसा की प्रधानता से भरा, तो वीर गायकों ने जोश भरी तलवारों की प्रधानता दिखाई। रामानन्दियों ने निर्गुण को दबी जबान से कह कर सगुण-स्वरूप रामावतार की उपासना के द्वारा विषयासक्त व्यक्ति को सुखशान्ति का मार्ग दिखाया, तो उन्हीं के शिष्य कबीर, दादू आदि ने निर्गुण-पन्थ की बिगुल बजा कर सगुणोपासना को दबा दिया। वैयक्तिक सुख और एकांगी साधना की शिक्षा देनेवाले इस साहित्य में तुलसी को ऐसा लोककल्याणकारी आदर्श नहीं दिखा जिसके अनुकरण से मनुष्य मानव-समाज में शास्त्रानुकूल मर्यादाओं के भीतर रह कर कर्म करता हुआ नारायण रूप हो सके। अतः तुलसी अपने निकटस्थ, न कि प्राचीनस्थ, पूर्ववर्ती तथा समकालीन साहित्य में, भाषा और विषय, दोनों दृष्टियों से सन्तोष नहीं पा सके। यद्यपि उन्होंने उसी अवधी और उसी ब्रजभाषा का प्रयोग किया, तथा उन्हीं कवित्त-छप्पय-दोहा-चौपाई-पदोंवाली शैलियों को अपनाया जिनका प्रयोग उन्हें उस साहित्य में मिला था, तथापि उन्हें यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि एक ओर तो उनका मार्जन किया जाय, और दूसरी ओर लोकरंजनकारी आदर्श का चरित्र-चित्रण किया जाय। बस ! यही प्रभाव तुलसी पर तत्कालीन साहित्य का पड़ा। तुलसी के तत्सम्बन्धी कथन अनेक स्थानों पर मिलते हैं, जिनमें से कुछ तो स्पष्ट हैं और कुछ अस्पष्ट। स्पष्ट कथनों में से 'साखी सबदी दोहरा' आदि द्वारा व्यक्त किये गये कुछ कथनों

का उद्धरण हम पिछले पृष्ठों पर 'धार्मिक पद्धति' के अन्तर्गत कर चुके हैं। अब यहां पर विनय पत्रिका से लेकर एक ऐसा भजन प्रस्तुत करते हैं, जिसमें प्रतीति तो यह होती है कि मानो तुलसीदास जी अपनी व्यक्तिगत व्यथा का प्रदर्शन कर रहे हों, परन्तु यथार्थतः उसमें तत्कालीन विचार-धारा के प्रति, जिसका प्रतीक तत्कालीन साहित्य था, व्यंग-पूर्ण चिन्ता व्यक्त की गई है, अर्थात् उसमें आत्माभिव्यंजना के बहाने लोकाभिव्यंजना मिलती है। उसका अर्थ करते समय पाठक तुलसी के त्रिभावात्मक राम को, जिसके विषय में हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं, न भूलें, और न यह ही भूलें कि उस भजन में 'आखर' शब्द 'सगुण' का पर्यायवाची है, जैसा कि 'अंक अगुन आखर सगुन' वाले दोहा से स्पष्ट है। वह भजन इस प्रकार है--

"रघुवरहिं कबहुँ मन लागि है?
कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल कपट कब त्यागि है?
जानत गरल अमिय विमोह वस, अमिय गनत करि आगि है॥
उलटी रीति प्रीति अपने की, तजि प्रभु पद अनुरागि है।
आखर अरथ मंजु मृदु मोदक, राम-प्रेम-पाग पागि है॥
ऐसे गुन गाइ रिझाइ स्वामि सों, पाइ हैं जो मुँह मागि है।
तू यहि विधि सुख-सयन सोइहै, जिय की जरनि भूरिभागि है॥"[७५]

सामाजिक जीवन का सुख-प्राप्ति का जो लक्ष्य है, वह इस भजन की अन्तिम पंक्ति में व्यक्त किया गया है और उसकी साधना का निर्देश पांच ीं पंक्ति में दिया है। उसमें 'मोदक' की जो उपमा दी है वह बड़ी सुन्दर और अर्थ-गर्भित है। 'मृदु' शब्द 'मृद्' धातु का रूपान्तर है, जिसका अर्थ है 'पीस कर या कुचल कर महीन करना'। जब कोई वैद्य किसी रोग की निवृत्ति के लिए कोई मोदक बनाता है तब वह आवश्यक वस्तुओं को खूब घुटवाता है क्योंकि अणु जितने बारीक किये जाते हैं उतने ही अधिक वे शक्तिवर्धक

---

७५. विनय पत्रिका, २२४

वा गुणप्रद होते हैं। इस तरह 'मृदु' शब्द 'मथन' का द्योतक है। अतः उक्त पंक्ति का यह अर्थ हुआ कि जब सृष्टि और उसके अभिप्राय या मर्म का खूब मथन कर लिया जाय, और फिर उसमें 'जड़ चेतन जग जीव युत' रूपी राम के प्रेम की भावना दी जाय तभी मानव जीवन मंजु तथा मानव-समाज सुखी हो सकता है। गरज यह है कि सगुण याने सृष्टिवाद (materialism) की उपेक्षा करना, जैसा कि सन्त-साहित्य प्रचार कर रहा था, उतना ही अहितकर है जितना कि सगुणोपासना के समक्ष निर्गुणता की उपेक्षा करना, जैसा कि रामानन्द-साहित्य में की गई है। तुलसी ने निरुपाधि स्वरूप ब्रह्म से ले कर सोपाधि स्वरूप समस्त सृष्टि पर्यन्त को एक अटूट जल-प्रपात-धार जैसा माना है, जैसा कि वह सनातन से माना जाता रहा था। इसी तरह सनातन से 'पुरुषार्थ' का महत्व माना गया है। इसीलिये उक्त भजन की पांचवीं पंक्ति में 'आखर' और 'अरथ' के योग से 'मोदक' बनाना कहा है, अर्थात् जब लोक (आखर) में पुरुषार्थ (अरथ) का संयोग किया जाता है तभी सुख प्राप्त होता है, क्योंकि बिना पुरुषार्थ के न तो स्वार्थ साधा जा सकता, न परमार्थ। यों तो लोक अनेक अर्थवाची है, पर इन समस्त अर्थों का समावेश स्वार्थ और परमार्थ, इन दो विभागों के अन्तर्गत कर लिया जाता है, और इन दोनों का अर्थों का मूल है, पुरुषार्थ। अतः तुलसीदासजी ने कहा है—

> **"पुरुषारथ स्वारथ सकल, परमारथ परिनाम।**
> **सुलभ सिद्धि सब साहिबी, सुमरत सीता राम॥"[७६]**

सीताराम के स्मरण करने से सिद्धियां या चारों फल प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि स्मरण करने वाले का लक्षण अनुकरण करना अवश्यंभावी होता है। परन्तु जो सीताराम से स्नेह पाल कर पुरुषार्थ करता है उसे न तो स्वार्थ-सिद्धि से मतलब और न परमार्थ-सिद्धि से। उसे तो निस्स्वार्थ हो कर केवल

---

७६. दोहावली, ५७०

कर्तव्य-परायणता में लगे रहने ही में आनन्द आता है, जिसके विषय में तुलसीदास जी ने यह कहा है—

> "स्वारथ-परमारथ-रहित, सीताराम - सनेह।
> तुलसी सो फल-चारिको, फल हमार मत येह॥"[७७]

जिस राम का स्मरण या जिस राम से स्नेह करने को तुलसी ने कहा है वह वही राम है जिसकी राज-शक्ति सर्व लोकों में व्याप्त है जिसके गुणानुवाद वेद-पुराणादि शास्त्र करते हैं, जैसा कि तुलसी के निम्न कथन में व्यक्त है—

> "वेदहू पुरान कही, लोकहू विलोकियत,
> रामनाम ही सों रीझे सकल भलाई है।
> × × ×
> रामराज सुनियत राजनीति की अवधि,
> नाम राम ! रावरो तो चाम की चलाई है॥"[७८]

अतः तुलसीदास जी उस सनातन आर्य-संस्कृति के अनुपालक हैं जो पदार्थवाद (materialism) और ब्रह्मवाद (spiritualism) अथवा सगुण वा निर्गुण के अभिन्न सम्बन्ध को अपनाती है और यह भी कहती है कि इस अभिन्नता को स्थापित तथा स्थिर बनाये रखनेवाली दिव्य-शक्तियां ही होती हैं जिन्हें देव-संज्ञा दी गई है। परन्तु ब्रह्मस्वरूप, देवस्वरूप

---

७७. वही ६०

७८. कवितावली, ७४ (नोट—जिस तरह उत्तम नीति और साख वाले राजा के राज्य में उसकी छाप लगाने वा नाम लिख जाने से चमड़े का सिक्का भी बड़े मजे से चलता रहता है, जैसे आजकल कागज के नोट चलते हैं, उसी प्रकार यह चर्म रूप शरीर उस पर रामांकन हो जाने पर मूल्यवान और सम्मानित बन जाता है, क्योंकि राम की नीति और साख ऐसी ही है।)

तथा भौतिक (पार्थिव) स्वरूप के समन्वय को हर मनुष्य अपने बुद्धि-बल से पाने में असमर्थ होता है। इसलिए उसके दर्शन कराने के लिये कोई न कोई गुरु अवश्य होना चाहिये। इस शास्त्रीय विधान का प्रयोग जीवन में नहीं हो रहा था, यह तुलसी ने तत्कालीन साहित्य में तथा प्रत्यक्षतः देखा। इसलिये उन्होंने चिन्तित हो कर लिखा—

"धातुवाद निरूपाधि वर, सुसदगुरु-लाभ सुमीत।
देव- दरस कलि काल में, पोथिन दुरे सुभीत॥"[७९]

समाज की यह दशा देख कर तुलसी के मन में प्रेरणा उठी कि वे विरति-विवेक-युक्त उस हरिं-भक्ति का (श्रुति-संमत हरि-भक्ति-पथ, संजुत विरति विवेक) निस्पादन करें, जो महर्षियों की अनुभूति-स्वरूप हो कर वेद-शास्त्रों में सम्मान प्राप्त कर चुकी थी। परन्तु यह विचार आते ही उन्होंने सोचा कि नव-भक्ति-पथ-निरूपकों के कारण 'कुपथ-कुतर्क-कुचाल-कपट-दंभ-पाखंड'[८०] का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया है मानो असाढ़ माह के पश्चात् सावन-भादों मास की वर्षा चल रही हो। प्रारम्भ काल में ही यदि विद्वान लोग चाहते तो उसकी गति अवरुद्ध हो जाती। परन्तु किसी ने ऐसा नहीं किया। इसी विचार-प्रवाह के समय, प्रतीत होता है, तुलसी ने यह दोहा लिखा होगा—

"तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन सुमौन।
अब तो दादुर बोलि हैं, हमें पूछि है कौन?"[८१]

तुलसी के मन में इस भाव का आना स्वाभाविक था, क्योंकि जन-साधारण में 'भेड़िया-धसानी' वृति का होना सभी जानते हैं। एक बार यदि

---

७९. दोहावली, ५५७; (नोट—धातुवाद=यदार्थवाद; उपाधियों के चार भेद होते हैं यथा जाति गुण, क्रिया, संज्ञा इन चारों से जो रहित हो वह निरुपाधि' कहाता है।

८०. वही ५६५

८१. वही ५६४

मनुष्य पर 'वाह्-वाह्' की छाप लगी तो उसे मिटाना बड़ा कठिन होता है, जैसा कि निम्न दोहा में तुलसी ने प्रकट किया है—

"तुलसी भेड़ी की धँसनि, जड़-जनता-सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।।"[८२]

निष्कर्ष

अब यदि एक बारगी फिर से उपरोक्त विवरण पर चलती नजर डाल ली जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास जी की वृत्ति धार्मिक थी। उनकी इस धर्म-वृत्ति में साम्प्रदायिकता, और अकर्मण्यता को स्थान नहीं था। शास्त्र एवं परंपरा से निश्चित की हुई मर्यादाओं या सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए लोक कर्म करना ही उनकी धर्म वृत्ति का द्योतक था। इस प्रकार के लोक कर्मों में रत अनेक धार्मिक पुरुषों वा नारियों के आदर्श उन्हें भारत के वेद पुराणादि प्राचीन साहित्य में पढ़ने को मिले। इस प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य में भी कुछ बौद्ध तथा अन्य राजाओं के प्रशंसनीय कर्म धर्म उन्हें दिखे। परन्तु मुसलिम-काल के इतिहास में समाज की जो अव्यवस्थित दशा देखने में आई उससे रोमाञ्च खड़े हुए। पुस्तक या वार्ता-ज्ञान के अतिरिक्त तुलसी को स्वयं मुसलिम-कालीन दुर्व्यवस्था का अनुभव हुआ। उन्होंने सारे समाज को छितर-बितर पाया। जहां जिस क्षेत्र में दृष्टिपात किया वहीं उस क्षेत्र में मर्यादा-भंग का नंगा दृश्य देखने को मिला। राजकीय क्षेत्र में राज-गद्दियों एवं राज्याधिकारों के लिये पिता-पुत्र तथा भाई-भाई तक परस्पर शस्त्र चलाते, एक दूसरे को बन्दी बनाते तथा एक दूसरे की हत्या कर डालते थे। राजा-प्रजा और प्रजा-प्रजा के बीच भी बड़ी गहरी खाइयां देखीं। राजा-प्रजा का पिता-पुत्र जैसा, तथा प्रजा-प्रजा का भाई-भाई जैसा सम्बन्ध न हो कर हिन्दू-मुसलमान दो विरोधी जातियों के रूप देखे-माने जाते थे। दोनों के बीच वैमनस्यता चल रही थी। हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं तथा सामाजिक

---

८२. वही ४९५

जीवनचर्या पर मुसलमान राजाओं वा प्रजाओं द्वारा कुठाराघात किया जा रहा था। इससे राजनैतिक क्षेत्र में अनैतिकता और अशान्ति के बादल छाये हुए थे। उधर अकबर की विमोहिनी राजनीति धर्मशीलता की चादर ओढ़े हुए हिन्दुओं को कायर भयभीत तथा स्वार्थरत बनाती हुई एवं नारी वर्ग की परंपरा से रक्षित धर्मपरायणी मर्यादा को भंग कर सात्विक हृदयों पर हथौड़ा जैसा आघात कर रही थी। राजनैतिक क्षेत्र के अतिशय दूषित होने के कारण आर्थिक व्यवस्था भी इतनी बिगड़ी हुई थी कि धनी-मानी लोग शास्त्रों में विहित दान-धर्म आदि की मर्यादाओं को तिनके के समान तोड़ते हुए गरीबों की ओर कोई लक्ष्य नहीं रखते थे। द्रव्य-दृष्टि से निम्नवर्गीय लोगों की दशा यहां तक शोचनीय हो रही थी कि उन्हें अपने बेटा-बेटियों तक को बेच डालना पड़ता था। समाज-व्यवस्था की दुर्दशा का तो पूछना ही क्या है? न तो कौटुम्बिक स्नेह था, न वर्ण-व्यवस्था थी, और न जीवनचर्या को यथा विधि धर्म-कर्म-मय बनानेवाले चार आश्रमों का ठिकाना था। वर्णों के स्थान में सैकड़ों जातियां बिलबिला रही थीं, तथा स्पर्शास्पर्श की जटिल समस्या नेत्र फाड़ कर हिन्दू जाति को घूर रही थी। उधर मुसलिम जाति में ऐक्य तो था, पर वह मद्य पान, नारी-विलास और कंचन-मोह में फंस रसातल की ओर खिसक रही थी। धर्म-क्षेत्र की तो सब से अधिक अद्‌भुत स्थिति थी। धर्म धर्म था ही नहीं। उसकी तह में थी भयंकर साम्प्रदायिकता और घोर आडम्बर। मुसलमान छल-बल-कल-लोभ से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में लगे थे, और हिन्दू अपनी दकियानूसी छुआ-छूत की धुन में मस्त थे। शिक्षा का जो उच्च उद्देश है वह तो मानो रात का स्वप्न हो रहा था। गुरु शिष्य का यथार्थ सम्बन्ध भुलाया जा चुका था। उत्तम धार्मिक वा नैतिक शिक्षा की ओर न तो राज्य का लक्ष्य था और न जन-समाज का। जो कुछ शिक्षा दी जाती थी वह अधिकतर पेटार्थी रहती थी और छोटे-छोटे मदरसों में मिलती थी। रही बात साहित्य की, सो जैसा समाज था वैसा ही उसका प्रतिबिम्बन साहित्य में हो रहा था। संस्कृत के अपभ्रंश से हिन्दी-साहित्य का उद्‌भव यद्यपि पर्याप्त रूप से हो चुका था तथापि उसको अभी भी सम्हालने

की आवश्यकता थी। उसमें प्रान्तीयता थी, एक देशीयता नहीं; उसके काव्य में छन्द-शास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन था; तथा उसका विषय एकांगी था, पूर्णांगी नहीं अर्थात् उसमें सर्वांगीण लोक-कर्मण्यता का आदर्श नहीं था। उसकी वृद्धि के मार्ग में फारसी से उत्पन्न एक प्रतिस्पर्धी उर्दू नाम की भाषा भी बड़ी तेजी से उठ रही थी। इन्हीं सब का मुकाबला करने के लिये तुलसी की कलम चली, रहन-सहन सीधा-सच्चा बना और चारों ओर दौड़-धूप लगा कर जन-जागृति करने में कसर नहीं रखी।

तुलसी की क्रान्ति-योजना

(प्रथम खंड)

क्रान्ति का उद्देश और आदर्श

क्रान्ति-विषयक प्रवेश

प्रथम अध्याय का हमने यह कहकर प्रारम्भ किया था कि तुलसी हमारी दृष्टि में एक महाकवि, महासन्त था और क्रान्तिकारी महापुरुष भी। हमने यह भी कहा था कि उनके महा कवि होने में कोई मत-भेद नहीं है, परन्तु उसके महासन्त होने में कुछेक विद्वेषी भिन्न मत प्रकट करते हैं। इन विद्वेषियों के द्वारा तत्सम्बन्धी की गई विरोध पूर्ण आलोचनाओं का हम अपने सामर्थ्यानुसार गत अध्यायों में यथास्थान खण्डन कर बता चुके कि वे तुलसी के भावों को अच्छी तरह नहीं समझ पाये जिनके कारण वे उन्हें संत नहीं कहते। अब रही उनके महाक्रान्तिकारी होने की बात, जिसका निर्धारण हमें केवल अपने बुद्धि-बल पर करना है। उसीका प्रवेश-द्वार आपको इस अध्याय में देखने को मिलेगा।

तीसरे अध्याय में हम यह प्रकट कर चुके हैं कि तुलसी-विषयक अनुसन्धान सदोष और अपूर्ण है। कुछ लोगों का ध्यान उनकी समाज-सेवा की ओर अवश्य गया है, परन्तु उन्होंने भी उन्हें केवल धर्म-संशोधक (religious reformer) कहकर छोड़ दिया है, और वह भी ऐसा धर्म-संशोधक, जिसका लक्ष्य था केवल हिन्दू-सम्प्रदाय और हिन्दुओं की वर्णाश्रम व्यवस्था। यदि इतना ही होता तो हम उन्हें क्रान्तिकारी कदापि न कहते। इसलिये हम हिन्दू-धर्म और हिन्दू-वर्णाश्रम-व्यवस्था पर भी पिछले पन्नों में पर्याप्त रूप से प्रकाश डालकर यह बता आये कि उन्होंने अपना तत्सं-बन्धी दृष्टिकोण केवल हिन्दू-समाज से परिसीमित नहीं रखा था। वर्णा-

श्रम-व्यवस्था स्वाभाविक नियमों (Natural Laws) पर आधारित होने के कारण सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये हितकर है, अतएव उसका प्रतिपालन हर एक के लिये आवश्यक है, यह भी हम कह आये हैं।

इस तरह गत अध्यायों में हमारे द्वारा निकाले गये इन निदानों पर ध्यान रखकर तुलसी-साहित्य का अध्ययन किया जाय तो निस्सन्देह तुलसी आपको अपने समय का उच्च कोटि का क्रान्तिकारी तुलसी दिखेगा।

तुलसी को क्रान्तिकारी न समझने के दो कारण

आलोचकों ने तुलसी की योजना वा कार्य-क्षमता को अभी तक क्रान्ति के रूप में नहीं देखा, इसके दो कारण हैं—एक तो साहित्याध्ययन और अन्वेषणकारिणी वही दूषित पद्धति जिसके विषय में ऊपर कहा जा चुका है और दूसरे राज्य-शासन के तख्ते को पलट देनेवाले पाश्चात्य देशीय विप्लवों (revolutions) को ही 'क्रान्ति' समझना।

क्रान्ति का व्यापक रूप

यह 'क्रांति' आखिर है क्या? व्यापक दृष्टि से, सीधी-सरल भाषा में, वह है किसी वस्तु की स्थिति-विशेष को पलट देने वाली उथल-पुथल। *जब इस उथल-पुथल की गति धीमी वा अल्टारूपी होती है तब उसे आन्दोलन* (agitalion) कहते हैं और जब उसकी गति तीव्र, विस्तृत, अतिक्रमणिक तथा आमूल उद्वेदन करनेवाली होती है तब वह क्रान्ति (revolution) कहाती है। परिस्थितियों के अनुसार इसके कई रूप होते हैं। परन्तु वे समस्त रूप मूलतः दो—विभागों के अन्तर्गत आ जाते हैं। एक वे जो शान्तिमय स्थिति को अशान्ति में परिवर्तित करते हैं, और दूसरे वे, जो अशान्तिमय स्थिति के स्थान में शान्ति की स्थापना के हेतु कार्यान्वित होते हैं। इस तरह सृष्टि में शान्तिप्रद और अशान्तिप्रद ये दो प्रकार की गतियां प्रकृतितः चलती हुई देखी जाती हैं। आधुनिक पदार्थ विज्ञानी इन्हीं को क्रिया-प्रतिक्रिया (action-reaction) कहता है, और धर्मविज्ञानी इन्हीं को सुख-दुखमय द्वन्द कहता है। पदार्थ-विज्ञानी और

धर्म (सूक्ष्मत्तत्व) विज्ञानी दोनों सुख-साम्राज्य की स्थापना करने के लिये उत्सुक रहते हैं, और यह तभी हो सकता है जब इन विकाररूप गतियों का शमन कर लिया जाय। परन्तु उनका बिलकुल शमन करना सृष्टि में रहकर सम्भव नहीं, इसलिये उनका नियमन करना आवश्यक होता है। उनका नियमन अथवा दमन किस प्रकार किया जाय इसी पर पदार्थ-विज्ञानी और धर्म-विज्ञानी में मत-भेद उठ खड़ा होता है। धर्म-विज्ञानी धर्म (जिसे सत् सत्य, ईश्वर, आत्मा आदि कहते हैं) का आधार लेकर सारी व्यवस्थाओं का मूल से लेकर अन्त तक संशोधन करने की बात करता है, क्योंकि वही एक मूल तत्व है, जो निर्विकार और अटल है। परन्तु पदार्थ-विज्ञानी इसे अव्यवहारिक कह थेगरा लगानेवाले दर्जी के समान व्यवस्थाओं को इधर-उधर से जोड़-तोड़ करने की बात कहता है। यह हुई क्रान्ति की व्यापक अर्थवाली संक्षिप्त परिभाषा।

(अ) तुलसी की मानव-क्षेत्रीय क्रान्ति--

परन्तु जिस क्रान्ति पर हमें यहां विचार करना है वह इतनी व्यापक-अर्थवाली नहीं है। उसका क्षेत्र प्रथमतः तीन बातों से सीमित रहता है। इस दृष्टि से वही क्रिया या गति क्रान्ति कराती है जो (१) मानव क्षेत्र में (२) मानव-शक्ति के द्वारा (३) अशान्ति अर्थात् दुखमय स्थिति को शान्ति और सुखमय स्थिति में परिणित करने के हेतु वर्ती जावे। इस परिभाषा के अन्तर्गत भी पर्याप्त व्यापकता है, क्योंकि उसमें मानव जगत के न केवल समस्त व्यक्ति और समाज का, बल्कि उसके समस्त अंगोंपांगो का समावेश हो जाता है। साधुचित्त महापुरुषों के कार्य इसी आधार को लेकर चलते हैं। उनकी क्रान्ति का यही व्यापक स्वरूप रहता है। तुलसी की क्रान्ति का रूप भी यही था, जिसका अवलोकन पाठकों को अंशतः गत अध्यायों के पाठ में मिला होगा।

(ब) पाश्चात्य राज्य-क्षेत्रीय क्रान्ति

परन्तु जब हम पाश्चात्य इतिहास और साहित्य पर दृष्टि डालते

हैं तो हमें इस क्रान्ति का इससे भी अधिक संकीर्ण रूप देखने को मिलता है। इस संकीर्णता के साथ ही उसमें मानवोचित सद्‌गुणों का ह्रास भी दिखाई देता है। वहां उसी मानवी क्रिया को क्रान्ति कहा गया है जो केवल राजकीय क्षेत्रों में मौजूदा राज्य के तख्ते को पलट देने के लिए उसी राज्य की प्रजा के द्वारा वर्ती गई हो। उसका आधार है 'स्वराज्य के बदले अच्छे राज्य का कोई मूल्य नहीं (A good government is no substitnte for Self-government) इस आधार पर चलकर वहां की जनता ने भले-बुरे, हिंसा-अहिंसा, छल-छिद्र की ओर विशेष ध्यान देकर स्थितशासकों से राज्य छीन लेने का ही प्रयत्न किया है। इस क्रिया की उत्पत्ति उस समय से हुई जब कि वहां की जनता में राजशाही वा पूँजीपतिशाही के स्थान में प्रजातंत्र अथवा जनतंत्र राज्य (Democracy) की भावना जागृत हुई। यह भावना तुलसी-काल के बहुत पीछे उठी है। तुलसी के युग में राज्य-शासन-सम्बन्धी भावना का आधार उक्त सिद्धान्त से भिन्न था ? शासन के अच्छेपन का ही उसमें मूल्य था, न कि शासक के के व्यक्तित्व का। उसमें प्रजा-वात्सल्य का ही महत्व माना जाता था।

राज्य-क्षेत्रीय क्रान्ति की दो विचार-धारायें

(अ) तुलसी-युग में पूर्व कालीन आदर्श-राजत्व (Ideal Kingship) की विचार-धारा

गत अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि इस भूमंडल पर प्रायः सभी देशों में राज्य-शासन का मुकुट अति प्राचीन काल से अपने अपने निश्चित नियमों के अनुसार किसी एक व्यक्ति-विशेष पर रखा जाता था, जिसे राजा कहते थे। चूँकि उस मुकुट के साथ ही उस पर प्रजापालन या रक्षण का उत्तरदायित्व भी रहता था, इसलिए उसे ईश्वरीय सद्‌गुणों से परिपूरित रहने के लिए भी धार्मिक आदेश रहता था। उन्हीं गुणों के कारण वह ईश्वररूप कहा जाकर पूजनीय भी माना जाता था। परन्तु 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' की उक्ति के अनुसार कई एक राजा

अत्याचारी होकर राज्य-व्यवस्था के घातक बन जाते थे। परिणाम यह होता था कि अन्य सदाचारी राजा, अथवा अन्य राजा सदाचार का बहाना कर, अत्याचारी राजाओं पर आक्रमण करके उनके आधीनस्थ राज्यों को छीनकर अपने हाथ में कर लेता था। ऐसा करने से स्वाभाविकतः स्थित राज्य-व्यवस्था में पर्याप्त रूप से हलचल मच जाती थी। प्राचीन काल से तुलसी काल तक हमें राजकीय-क्षेत्र में इसी प्रकार की उस क्रान्ति का रूप देखने को मिलता है जिसके द्वारा कुराज्य के स्थान में सुराज्य की स्थापना की जाती थी। परन्तु इस प्रकार की नीति से यथार्थ कोई लाभ नहीं होता था। यदि कुछ हुआ भी तो वह अत्यन्त अल्पकाल तक ठहर पाता था, और फिर उसी पूर्वोत उक्ति "प्रभुता पाय काहि मद नाहीं" के अनुसार अनाचार या दुराचार फैल जाता था। इसी प्रकार के दुष्परिणामों का शिकार भारत उस समय बन रहा था जबकि तुलसीदास जीवित थे वा जिनके विषय में हम पिछले अध्याय में कह आये हैं। उस समय बात कुछ ऐसी तो थी नहीं कि पीड़ित प्रजा अपनी पीड़ा से मुक्त होने के लिए छटपटाती न हो! छटपटाती तो थी, पर सत्ताधारी राज्य या शासनाधिकारियों को निकाल भगाने और उनके स्थान पर प्रजावत्सल राज्याधिकारियों को जमाने के लिए उन्होंने उपर्युक्त साधन के अतिरिक्त कोई दूसरा उपयुक्त साधन नहीं ढूढ़ पाया था। जनता की सामूहिक शक्ति के विशाल साधन का उन्होंने प्रत्यक्षतः प्रयोग करना नहीं सीख पाया था—वह केवल ग्रन्थों का ही विषय बनकर पड़ा हुआ दिखाई देता था।

(ब) तुलसी-युग के पश्चात् आधुनिक कालीन प्रजातंत्र (Democracy) **की विचार-धारा—**

यों तो हर राज्य-काल में प्रजा का शासन-विभाग में कुछ न कुछ भाग रहता ही था। परन्तु उसमें इतना दम नहीं था कि राज्य को ही आवश्यकता आने पर दबा सके। इतिहास से यह ज्ञात होता है कि **स्थापित राज्य को प्रजा के द्वारा समाप्त कर देने का सबसे पहला प्रयत्न इंग्लैंड के राजा जेम्स (प्रथम) के विरुद्ध सन् १६०५ ई० में देखने को मिलता है**

उस समय इंग्लैंड की जनता के एक भाग-विशेष (रोमन केथलिक पार्टी) के कुछ लोगों ने राजा जेम्स और उसकी सभा (पार्लियामेन्ट) के सदस्यों को बारूदी-षडयन्त्र (The gun-Powder Plot) के द्वारा उड़ा देना चाहा था, परन्तु षडयन्त्र की बात खुल गई और इसलिए वह असफल रहा। इसके बाद तुलसी की मृत्यु सन् १६२३ ई०तक कोई इस प्रकार का अथवा अन्य किसी दूसरे प्रकार का किसी देश में स्थापित राज्य का तख्ता पलटने का जन-प्रयत्न नहीं हुआ। सन् १६०५ ई० में किये जानेवाले उपर्युक्त उपद्रव की चिनगारी उड़ने के पूर्व ही बुझ गई, इसलिए उन दिनों में जबकि समाचार भेजने या मिलने के साधन अत्यन्त स्वल्प वा कठिन थे, उसकी खबर तुलसी के अथवा भारत के किसी के कान तक न पहुँच पाई होगी। ऐसी हालत में हमें तुलसी की क्रान्ति के विषय में—अनुसंधान करते समय अपने मन को उन क्रान्तियों के प्रभाव से दूर रखना चाहिये, जिनका स्वरूप तुलसी-काल के पश्चात् यूरोप के इतिहास में हमें देखने को मिलता है। राज-तंत्र को समाप्त करने के लिए जन-तंत्र का यह ढोल सुनने में यद्यपि बड़ा सुहावना लगता था, तथापि वह बड़ा भीषण सिद्ध हुआ। एक ही राज्य की प्रजा-प्रजा के बीच सशस्त्र संघर्ष हुए और खून की नदियां बहीं, और परिणाम कुछ थोड़े हेर-फेर से वही रहा जो पहले राज के समय रहा करता था। क्रामवेल, नैपोलियन आदि सशस्त्र नेताओं ने यत्र-तत्र राज्य के तखते पटलाये सही, पर वे स्वयं ही भिन्न-भिन्न नामों के बहाने सत्ताधारी बनने लगे। इन क्रान्तियों का क्रम अभी भी चालू है। अन्तर केवल नाम और रूपों में पाया जाता है। जहां देखो वहां न केवल यूरोप में बल्कि सारे भूमण्डल में राजशाही और पूँजीपतिशाही के विनाश के नारों के साथ हां साथ जनतंत्र की तू-तू की आवाज सुनाई जाती है सही, परन्तु उसकी तह से राजाशाही जैसी बू भरी तानाशाही (Dictatorship) भी उभरती हुई चली आ रही है। इस सम्बन्ध में रूस के स्टालिन का नाम तो बदनाम है ही, पर अन्य देशों के सत्ताधारियों को भी अच्छी तरह से परखिये तो वे भी उसी रंग में रंगे दिखाई देने लगते हैं।

तुलसी की क्रान्ति की कसौटी—

तात्पर्य केवल इतना है कि तुलसी काल के पश्चात की राजकीय ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित होकर क्रान्ति-विषयक जो दृष्टिकोण हमने अपना बना लिया है और जिसके आधार पर चलकर हम तुलसी की आचार-विचारधारा का परीक्षण कर यह बताते हैं कि तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष नहीं थे यह भूल है। तुलसी ने अपना दृष्टिकोण केवल राज्य-क्षेत्र से सीमित करके नहीं रखा था। उनके सन्मुख समाज के प्रायः सभी प्रमुख अंग थे, क्योंकि किसी एक में दोष रहने से अन्त में सभी को दूषित बन जाने की सम्भावना थी। ये सब एक 'धर्म' शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि जैसा हम पहले कह आये हैं 'धर्म' न केवल 'कर्म' का प्रतीक ही है वरन् व्यापकार्थी भी है। इसलिये आप देखते हैं कि मानस में आवश्यक सामाजिक व्यवस्थाओं वा सम्बन्धों पर विचार प्रकट करते समय धर्म की पुट सब जगह लगी हुई मिलती है। चूंकि राज्य उस व्यवस्था का नाम है जो व्यक्ति और समाज को संयमित रख सुख की ओर अग्रसर करे, इसलिए हमें मानस में 'राम-राज्य' की महिमा भी गाई गयी मिलती है। तुलसी को उस जन-राज्य से मोह नहीं, जो शासकों का परिवर्तन तो कर दे, पर शासन की दूषित पद्धति को बदलने में असमर्थ हो। शासक कोई भी हो, शासन का ताज किसी के सिर पर रहे, पर राज्य पद्धति उसकी रहे 'राम-राज्य' जैसी, जिसके अन्तर्गत रहनेवाली प्रजा अभेद रूप से सुखी रहे, कोई किसी से वैर-भाव न रखे, इत्यादि।[1] इस प्रकार से विचार करने पर यह तत्काल प्रकट हो जाता है कि तुलसी वैसे ही क्रान्तिकारी थे जैसे महात्मा गांधी। गांधी जी तुलसी-द्वारा वर्णित इस 'राम-राज्य' को सदा आदर्श बताते रहे, और आज भी विनोबा भावे जैसे जगत-प्रसिद्ध क्रान्तिकारी महापुरुष उसी राम-राज्य

---

१. मानस उ० कां० में वर्णित 'राम-राज्य-महिमा' को ध्यानपूर्वक पढ़कर देखिये, कितनी उच्च भावुकता दर्शाई गई है।

की दुहाई देते हुए पाये जाते हैं। इस दृष्टि से तुलसी इन महान क्रान्तिकारियों के गुरू कहे जाँय तो अनुचित न होगा। गुरु का कर्त्तव्य गुरुमंत्र देकर समाप्त हो जाता है। फिर शिष्यों का कर्तव्य रह जाता है कि उनमें से हर एक अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुकूल उस गुरु-मंत्र का व्यवहार रूप में प्रयोग करे। गांधी और भावे ने यही किया है। जिस 'राम' और 'राम-राज्य' के आदर्श को लेकर कर्म-कुशल वा तपस्वी गांधी और भावे को हम महा-क्रान्तिकारी कहने में गर्व समझते हैं, तो उसके लगभग चार सौ वर्ष पू की अति दुर्व्यवस्थित और संकटग्रस्त परिस्थितियों में रहनेवाले तपस्वी तुलसी को जिसने सर्वप्रथम तथा जीवन-पर्यन्त निर्भीकतापूर्ण उस राम और राम-राज्य की बिगुल फूंकी, क्रान्तिकारी कहने में—नहीं, महाक्रान्ति-कारी कहने में—क्यों झिझक होती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है? यदि गांधी को, जिसने अपने अपूर्व तप और अहिंसाव्रत के कारण संपूर्ण पृथ्वी पर तलहका मचा दिया है, तुलसी का अनुगामी कहें तो असत्य न होगा। जिस तरह गांधी को अपने युग की विशेष परिस्थिति का मुकाबला करना पड़ा था उसी प्रकार तुलसी को भी अपने काल की विशेष परिस्थितियों से जूझना पड़ा था। हमारी समझ में तो तुलसी के समय की परिस्थितियां गांधी-युग की परिस्थितियों से अधिक कठिन और भयंकर थीं, क्योंकि उस समय न तो जनमत इतना प्रबल था और न राज-भय वा राज-दंड इतना कम था, जितना कि गांधी के समय हो गया था। इन भयंकर परिस्थितियों के रहते हुए भी तुलसी ने जिस तप-अंहिसा और चातुर्य के साथ सामाजिक तथा राजकीय कार्यों में आमूल परिवर्तन करने की जीवन पर्यन्त ठान ानी थी वह देखने योग्य है। गांधी जी की श्रेष्ठता हमारे नेत्रों में इसलिए अधिक प्रतीत होने लगती है, क्योंकि संयोगवश ब्रिटिश-साम्राज्य ने भारत का राज्य भारतीयों को बिना युद्ध के सौंप दिया। परन्तु क्रान्तिकारी की उपाधि प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक नहीं कि उसे अपने जीवन में या उसके बाद ही अपने कर्त्तव्य का मनोवांछित फल मिले ही। गीता आदि महा-ग्रंथों के अनुसार फल का मिलना न मिलना कर्मयोगी के लिए अवांच्छनीय

और अनावश्यक कहा है। और फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसी का वह क्रान्तिकारी कर्म असफल रहा। उन्हें कब और क्या सफलता मिली, इस पर आगे यथा स्थान पर कहेंगे। उपर्युक्त विवेचन का प्रयोजन केवल इतना ही है कि पाश्चात्य देशीय 'क्रान्ति' शब्द की व्याख्या से प्रभावित होने के कारण आलोचकों ने अभी तक तुलसी के कार्यों में क्रान्तिपन नहीं देख पाया। तुलसी के क्रान्तिपन के विषय में हम केवल एक महाशय को कुछ अतिसूक्ष्म कहते हुए सुनते हैं और जो कुछ उन्होंने कहा है उससे यही प्रतीत होता है कि उनका मन क्रान्ति-सम्बन्धी पाश्चात्य शब्दावली के कारण विचलित हो उठा है। वे कहते हैं कि "आधुनिक शब्दावली में तुलसीदास जी 'क्रान्तिकारी' तो नहीं कहे जा सकते, पर उन्होंने जो कार्य किया और जिस प्रकार मत अभिव्यक्त किया उसने परिणाम वही उत्पन्न किया जो क्रान्ति का होता है यह कम से कम माना जाता है।"[२]

तुलसी की क्रान्ति का त्रिविध परीक्षण

अब देखना यह है कि यदि तुलसी क्रान्तिकारी महापुरुष थे, तो उन्होंने (१) अपनी योजना की रचना किस प्रकार की? (२) उसका प्रचार कैसे और कितना किया? और (३) उसका परिणाम क्या हुआ?

क्रान्ति की योजना और उसके चार अंग

क्रान्तिकारी को सबसे पहले अपने कार्य की योजना तैयार करनी पड़ती है। यद्यपि जिस जिस प्रकार से कार्य का बिस्तार होता जाता है तिस तिस प्रकार से उस योजना को सफलीभूत बनाने के हेतु उसके विवरण (details) में यथावश्यक संशोधन और परिवर्तन करते जाते हैं तथापि उसकी रूपरेखा पहले से ही बना लेना आवश्यक होता है। अन्य क्रान्तिकारी योजनाओं के समान तुलसी की योजना को भी चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा (१) उद्देश्य (२) आदर्श (३) नारा

---

२. 'तुलसीदास और उनका युग', पृ० ५५

और (४) पथ। इन चारों की रूप-रेखा सूत्र रूप में हमें निम्न प्रकार की दिखाई देती है।

(१) क्रान्ति का उद्देश्य—जनकल्याण
(२) क्रान्ति का आदर्श (ध्वजा-चिन्ह)—सीताराम
(३) क्रान्ति का नारा—राम-राज्य
(४) क्रान्ति का पथ-निर्धारण
(क) पथ-प्रदर्शक (Guide)
(ख) आत्म-वृत्त (Vows)
(ग) भयावहस्थल (Danger-spots)

जिस प्रकार हर योजना का स्पष्टीकरण किया जाता है उसी प्रकार तुलसी की उक्त योजना का भी स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। इस अध्याय में केवल उद्देश्य और आदर्श इन्हीं अंगों का स्पष्टीकरण किया जायगा।

(१) क्रान्ति का उद्देश्य—जनकल्याण

गत पाठों में कतिपय बातों को लेकर यह बताया जा चुका है कि तुलसी साम्प्रदायिकता के परे थे उन्होंने अपना सम्बन्ध जन-समुदाय के किसी भाग विशेष से सीमित करके नहीं रखा था। सारा जन-समुदाय उनके लिये एक समान था। वे सब के एक समान हितेच्छुक थे। वे सीताराम के परम भक्त थे, और उन्होंने सारे जगत को ही अपना सीताराम माना था—'सियाराम मय सब जग जानी'। उनकी यह कोरी कल्पना नहीं थी। उनका राम केवल दशरथ-नन्दन नहीं था। दशरथ-नन्दन तो उनके यथार्थ राम का प्रतिरूप था। यथार्थ राम तो सर्व-व्याप्त सर्व शक्तिमान सत्ता थी, जिसकी अनुभूति उन्हें निर्गुण और सगुण रूप में होती थी। उस सर्व-व्याप्त सत्ता का प्रकृति के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध है। जब प्रकृति उसी में समाई हुई निष्क्रिय रहती है तब उसे अव्यक्त प्रकृति और सत्ता को निर्गुण कहते हैं, और जब वह उसके साथ रहती हुई सक्रिय रहती है तब उसे व्यक्त प्रकृति और सत्ता को सगुण कहते हैं। इसी सर्व व्याप्त प्रकृति की प्रति-

च्छाया जनक-नन्दिनी सीता है। जब मानस में यह कहा जाता है कि सीता 'अग्नि में समा गई' अथवा 'अग्नि में प्रवेश कर अपने धाम आकाश में उड़ गई' तब उसका व्यक्त से अव्यक्त होना अथवा मूल सत्ता में समा जाने का भाव समझना चाहिये। गरज यह है कि यह सारी सृष्टि इस मूल सत्ता और व्यक्त प्रकृति का रूप है, और चूँकि तुलसी ने मूल सत्ता को राम तथा प्रकृति को सीता की संज्ञा दी है इसलिये वे 'सियाराम मय सब जग जानी' कहते हैं।

चूँकि तुलसी स्वयं तथा सब मानव इस सगुण स्वरूप 'सिया राम मय सब जग' के अंश हैं इसलिए हर एक को कर्म करना ही पड़ता है क्योंकि सगुण शरीरी का निर्गुणी होकर रहना असम्भव है, निर्गुणत्व की कल्पना अथवा अल्प कालीन अनुभूति चाहे भले ही हो जावे। इस सगुणता में निर्गुणत्व का आरोप करनेवालों ने कर्म करने की एक थ्योरी (सिद्धान्त) निकाली है। उसे वे लोग 'निष्काम कर्म' कहते है अर्थात् किसी इच्छा, अर्थ या फलाकांक्षा के बिना ही कर्म किया जाय। कोई कोई इसी बात को यह कहकर दर्शाते हैं कि कर्म कर्म के लिये (duty for duty's sake) ही करना चाहिये। परन्तु तुलसी को सगुण-जीव अर्थात् सशरीर जगत के लिए इस सिद्धान्त में कोई व्यावहारिकता नहीं जंची। इसलिए उन्होंने अपना एक ऐसा नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसमें एक ओर तो सगुणी शरीरी के लिये व्यावहारिकता के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर निर्गुणोपासकों के लिए भी उसी में निष्कामत्व की प्रतीति हो जाती है। इसे जानने के लिए हमें कर्मोत्पादक प्रचलित भावनाओं की ओर दृष्टि फेंकनी होगी। एक भावना तो है 'स्वार्थ की' जो अति हेय मानी जाती है। इस प्रकार के लोग केवल अपनी लौकिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये कर्म करते हैं। दुनिया चाहे मरे या जिये उन्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं और न उन्हें इसकी परवाह रहती है कि उनका अन्तर्स्थित 'स्व' बिगड़ता है या बनता है। दूसरे प्रकार के लोग वे होते हैं जो अपने लौकिक स्वार्थ के साथ अपने नैतिक उद्धार की ओर भी ध्यान रखते हैं। ऐसे लोगों के कर्म 'पुरुषार्थ'

की भावना से प्रेरित होते हैं। परन्तु तीसरे प्रकार के लोगों का कहना है कि कर्म चाहे निराट लौकिक-लाभ (स्वार्थ=outerself) के लिए किया जाय या आत्म लाभ (पुरुषार्थ=innerself) के लिए, वह आखिर है तो स्वार्थ के लिये ही। इसलिए उनका कहना है कि कर्म परार्थ या परमार्थ के लिये ही करना चाहिए। लेकिन चौथे प्रकार के लोगो ने यह कहा कि कर्म चाहे जिस हेतु या अर्थ में किया जाय उसमें दूषित मनोवृतियों के कारण बुराइयां उत्पन्न हो ही जाया करती हैं। इसलिये उन्होंने यह कहना प्रारम्भ किया कि कर्म किसी भी अर्थ से न किया जाय—वह निष्काम अथवा निष्प्रयोजनीय रहे। परन्तु तुलसी ने कहा कि ऐसा हो ही नहीं सकता। जब तक हम शरीरधारी हैं तब तक हममें कुछ न कुछ प्रेरणा, भावना, या इच्छा उठे बिना नहीं रह सकती। इसलिए उन्होंने कहा कि 'सियाराम मय सब जग' को एक कुटुम्ब समझकर प्रेम-भावना से कर्म करने पर सब अर्थ सिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् लौकिक स्वार्थ, नैतिक स्वार्थ अर्थात् पुरुषार्थ तथा परमार्थ सभी सहज ही सुलभ हो जाते हैं, और इस सुलभ-सिद्धि में निष्काम-भावना की अनुभूति भी उसी तरह से होने लगती है जिस प्रकार हिन्दू सम्मिलित कुटुम्ब के किसी सदस्य को किसी कौटुम्बिक कर्म को करते समय होती है। तुलसी ने अपनी क्रान्ति का उद्देश्य यही रखा था कि समस्त जन-समुदाय एक कुटुम्ब है, क्योंकि सब 'सियाराम मय' हैं। जन-समुदाय के कुटुम्ब (वसुधैव कुटुम्बकं) मान लेने पर जब प्रेम से प्रेरित हो उसके कल्याणार्थ कर्म किये जावें तो हर एक को स्वार्थ, पुरुषार्थ, परमार्थ वा निरार्थ सभी की अनुभूतियुक्त प्रसन्नता अवश्य प्राप्त हो सकेगी। यह था तुलसी की क्रान्ति का उद्देश्य, जो उन्होंने जनता के सन्मुख प्रकट किया। प्रमाणस्वरूप दोहावली में कथित निम्न दोहों को देखिए—

स्वारथ सीताराम सों, परमारथ सियराम।
तुलसी तेरो दूसरे, द्वार कहाँ कहु काम॥

स्वारथ परमारथ सकल, सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरे दीनता, उचित न तुलसी तोर॥[३]

अर्थात् जब सीता राम रूप सर्व जगत कुटुम्बवत हो जाय तो उससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों एक साथ सध जाते हैं (क्योंकि कुटुम्ब में जो जिस योग्य होता है वह उसी के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक कार्य-भार संभालने और सम्मान देने वा पाने के लिए तत्पर रहता है जिससे सामूहिक लाभ के रूप में वैयक्तिक स्वार्थ और परमार्थ भी प्राप्त होते जाते हैं)। इस तरह जब सब जगत को अपना लिया जाता है तब दूसरा रहा ही कहां जिसके दरवाजे को खटखटाया जाय। इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसे विचारशील कर्मयोगी को स्वार्थ, परमार्थ और पुरुषार्थ तीनों एक साथ हाथ लग जाते हैं—

पुरुषारथ स्वारथ सकल, परिमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी, सुमिरत सीताराम॥[४]

यहां तक कहकर तो तुलसी ने उन लोगों को समझाया जो सकाम अथवा फलेच्छा से कर्म करने की बात करते हैं, परन्तु इसके आगे उन्होंने निष्काम-भावनाओं के समर्थकों के लिए भी यह कह दिया कि यदि आपको किसी अर्थ अर्थात् स्वार्थ-परमार्थ से कोई मतलब नहीं है तो आप उन्हें तिलांजलि देकर केवल 'सिया राम मय सब जग' से 'स्नेह' कर कर्म करिये तो आपको अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों फलों का एक मात्र फल 'स्नेह' ही सन्तोष देनेवाला हो जाता है अर्थात् आपको कसी फल की इच्छा नहीं रहती—

स्वारथ-परमारथ रहित, सीताराम सनेह।
तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत एह॥[५]

---

३. दोहावली ५३-५४
४. दोहावली ५७०
५. ,, ६०

हम यह पहले देख चुके हैं कि तुलसी का आदर्श मूलतः वह निर्गुण राम है जिसमें प्रकृति अव्यक्त रहती है। इस दृष्टि से उन्होंने सर्व जगत को 'सियाराम मय' न कह केवल 'राम मय' कहकर सम्बोधित किया है— 'जड़ चेतन जग जीव जे, सकल राम मय जान।' इसलिए उन्होंने उसी दोहावली में अन्यत्र उक्त स्वारथ-परमारथ-विषयक भाव को 'सिया राम' से सम्बन्धित न कर केवल 'राम' से संबंधित करके बताया है, जैसे—

मीठो अरु कठवति भरो, रौ ताई अरु क्षेम।
स्वारथ, परमारथ सुलभ, रामनाम के प्रेम॥[6]
स्वारथ सुख सपने हुं अगम, परमारथन प्रवेस।
रामनाम सुमिरत मिटहि, तुलसी कठिन कलेस॥[7]

इस तरह पाठक यह अवश्य ध्यान में रखें कि तुलसी ने अपनी योजना का उद्देश्य वही व्यापक-जन-कल्याण रखा था जो अन्य महापुरुषों के सन्मुख रहा है व रहता है। तुलसी का 'राम' या 'सीताराम' अभेद भाव से जन समुदाय का द्योतक है, यह न भुलाया जाय।

(II) क्रान्तिका आदर्श (ध्वजा-चिन्ह)—सीताराम

जिस प्रकार हर क्रान्ति का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है उसी प्रकार उसका कोई न कोई ऐसा आदर्श भी रहता है जिसके पालन करने से उस उद्देश्य की पूर्ति हो सके, और जिसके प्रदर्शन करने से अन्य लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित भी हो सके तथा वे उससे आकर्षित होकर क्रान्ति में भाग ले उसे सफल बना सकें। उदाहरणस्वरूप सोवियट रूस में कम्यूनिस्टों ने 'हथौड़ा-हँसिया', और भारतीय कांग्रेस पार्टी ने गांधी के जमाने में 'चर्खा' को अपना आदर्श बनाया और अपने-अपने अनुकूल अपनी योजनाओं को प्रदर्शित करने के लिए ध्वजा बनाकर उनमें अपने उक्त आदर्शों का चिन्ह

---

६. दोहावली १५
७. ,, १७

प्रदर्शित किया। इन दोनों क्रान्तियों का उद्देश्य था आर्थिक समता लाने का। रूस में श्रमिकों को ऊंचा उठाना चाहते थे, इसलिए वहां पर उन्होंने उन श्रमिकों के पारिश्रमिक-जीविका का प्रदर्शन 'हथौड़ा-हँसिया' के द्वारा किया; और गांधी ने भुखमरीपन मिटाने के लिए वस्त्र-भोजन-प्राप्ति का एक व्यापक मूल-साधन चर्खा कातने में देखा। इसलिए कांग्रेस ने हिन्दू-मुसलिम तथा अन्य शेष जातियों के प्रतीक तिरंगा झंडा को अपना कर उस पर 'चर्खा' का चिन्ह अंकित किया। परन्तु अपने समय की परिस्थितियों को देख तुलसी ने अपनी क्रान्ति का उद्देश्य उक्त क्रान्तियों से अधिक व्यापक बनाया। उनका उद्देश्य समाज के किसी अंग-विशेष या क्षेत्र-विशेष से नहीं था। उनके समय में चहुँओर से मानवता का ह्रास हो रहा था। उनका ध्यान था कि यदि जनता में मानवता आ जाय तो वह शरीरिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में समृद्ध वा सुखी हो सकेगी। अतः उन्होंने 'जन कल्याण' का एक विशाल उद्देश्य अपनी योजना का रखा। चूँकि मानवता का यथार्थ प्रदर्शन किसी प्रत्यक्ष पदार्थवाची चित्र के द्वारा करना सम्भव नहीं हो सकता था, इसलिए उन्होंने अपना आदर्श मानवता से युक्त मानव को ही ढूढ़ा, और उसी का अपनी क्रान्ति के ध्वजा पर चित्रांकन किया। हम कह आये हैं कि उनका आदर्श 'सीताराम' था इसलिये उन्होंने 'सीताराम' का चित्रांकन किया। परन्तु यह भी प्रतीत होता है कि कदाचित् उन्होंने अपने मनोभावों को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए न केवल 'सीताराम' का वरन हनुमान समेत 'राम-सीता-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न' रूप पंचायत का ही ध्वजा-चिन्ह अपनाया हो, जैसा कि आज भी हमें कहीं कहीं देवालयों तथा चित्रों में देखने को मिलता है। यह हो तो सकता है, पर उसके होने में हमें सन्देह होता है, क्योंकि ध्वजा-चिन्ह सर्वदा, सर्वत्र सूक्ष्म और सरल होते हैं, न कि विस्तृत और क्लिष्ट। जो भी हो, एक बात विशेष स्मरणीय है और वह यह है कि 'सीताराम' के चित्रांकन में सीता और राम, ये दो अलग-अलग व्यक्ति नहीं रहते थे, बल्कि अर्द्धांगिनी सीता को राम की वामांगी बताकर दोनों में एकत्व की स्थापना की जाती थी। दूसरे शब्दों में, सीता

और राम इकाई के रूप में चित्रित किए जाते थे। यही कारण है कि राम-पंचायत में यद्यपि हनुमान समेत छः व्यक्ति होते हैं पर राम-सीता को एक गिनने से वे पांच ही रह जाते हैं।

तुलसी का आदर्श था केवल 'राम' अथवा 'सीताराम' जैसा कि हम पहले कह आये हैं। सीता और राम काल्पनिक हैं या ऐतिहासिक व्यक्ति इस पर भी हम अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। हमने काल्पनिक मतवाले लोगों की तर्कों का खण्डन करके सातवें अध्याय में उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर जोर दिया है। पर सच क्या है, इस पर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। मानस में अथवा अन्यत्र वर्णित राम कथा में कुछ ऐसी अद्भुत बातें पढ़ने को मिलती हैं कि उनसे हमारी कौन कहे अच्छे अच्छे धुरन्धर विद्वानों को भी सीता और राम की ऐतिहासिकता पर सन्देह हो उठता है। इसलिए सम्भव है कि वे काल्पनिक भी हों। विनोबा भावे को भी इस प्रकार का सन्देह कौरव-पांडव के युद्ध के विषय में उठा था और उस समय का उनके द्वारा कहा हुआ कथन यहां कह दिया जाय तो उससे यह पता लग जायगा कि प्राचीन बातों के बारे में कोई कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। वे कहते हैं कि "बहुत प्राचीन काल से मानवी मन में सदसत प्रवृत्तियों का जो झगड़ा चलता है, उसका रूपात्मक वर्णन करने की परिपाटी पड़ गई है। वेद में इन्द्र व वृत्र, पुराणों में देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियों के धर्म-ग्रन्थों में अहुर मज्द और अहरिमान, ईसाई मजहब में प्रभु व शैतान, इस्लाम में अल्लाह व इब्लीस इस तरह के झगड़े सभी धर्म-ग्रन्थों में आते हैं। काव्य में स्थूल विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओं के रूपकों के द्वारा किया जाता है तो धर्म-ग्रन्थों में सूक्ष्म मनोभावनाओं का वर्णन उन्हें चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है।"[८]

परन्तु यदि सीता और राम काल्पनिक स्त्री-पुरुष ही हों तो जहां तक उन्हें आदर्श के रूप में अंगीकार करने का प्रश्न है वहां तक उनसे किसी भी

---

८. गीता-प्रवचन पृ० २३१

प्रकार की आपत्ति नहीं उठ सकती और न हानि भी हो सकती है। आदर्श, सच पूछा जाय तो काल्पनिक ही होता है, जैसा हम सातवें अध्याय के अंत में कह आये हैं। 'हथौड़ा-हँसिया' अथवा 'चर्खा' अथवा अन्य चिन्हांकन भी तो आखिर किन्हीं भावनाओं के द्योतक होते हैं।

तुलसी का क्रान्तिकारी राम

प्रश्न अब यह उठता है कि यदि तुलसी क्रान्तिकारी थे, तो उनका आदर्श भी क्रान्तिकारी होना चाहिए, अन्यथा उनका क्रान्तिकारी कहा जाना ऐसा ही होगा जैसे बिना नींव के दीवार खड़ी करना। दूसरे शब्दों में, जब तक यह सिद्ध न हो कि राम स्वयं क्रान्तिकारी थे तब तक तुलसी को क्रान्तिकारी मानना, विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। यों तो राम के विषय में जिस साहित्य से या जिन प्रचलित भावनाओं से हम परम्परा से परिचित होते चले आ रहे हैं उनसे, तथा जिस भक्ति भाव से तुलसीदास ने राम-कथा का उल्लेख किया है, उसके पढ़ने से हमें यही प्रतीत होता है कि राम क्रान्तिकारी नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन्होंने केवल कौटुम्बिक स्नेह, सत्य-व्रत, त्याग, तप, पतित्व, गुरु-सम्मान, धैर्य, पराक्रम, प्रजा-वात्सल्य आदि गुणों को चरितार्थ कर मनुष्यों में साधुता का बीज भर बोया है। क्रान्ति से, जिसमें भीषण उथल-पुथल की चक-चक रहती है, उन्हें क्या प्रयोजन था? परन्तु मानस ही में वर्णित राम-कथा का विचार-पूर्वक अध्ययन करने से, अथवा उसे वाल्मीकि रामायण आदि तत्सम्बन्धी ग्रन्थों से यथासंभव सहायता लेकर पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्र जी अपने युग के महा क्रान्तिकारी पुरुष थे, जिनमें धर्म और साधुता के साथ-साथ कुनीतियों, कुरीतियों और अत्याचारों का विरोध करने का अद्वितीय साहस और पराक्रम था। जो कुछ उन्होंने कहा उसे उन्होंने अपने जीवन में घटित कर बताया, तथा समाज को भी उस ओर अग्रसर किया। गरज यह कि 'सिद्धान्त की अपेक्षा राजकीय दृष्टान्त बेहतर होता है' (example is better than precept) इस उक्ति के अनुसार वे अवतार

रूप से इस संसार में रहे और मानवोद्धार के लिए अपने पथ-चिन्ह छोड़ गये। उन पथ-चिन्हों को जिन्होंने ठीक प्रकार से नहीं पहचाना, वे ही राम को क्रान्तिकारी कहने में संकोच करते हैं, और इसीलिए उन्हें तुलसी को भी क्रान्तिकारी कहने का साहस नहीं होता।

तुलसी का राम त्रिभावात्मक है, यह हम इस पुस्तक में प्रवेश करते समय ही प्रथम अध्याय में जान चुके हैं। चूंकि वही उनका आदर्श है, इसलिये हमें देखना चाहिये कि क्या वह त्रिभावात्मक राम ही क्रान्तिकारी है, या नहीं। यदि एक भी भाववाला राम क्रान्तिकारी सिद्ध नहीं हुआ, तो तुलसी को क्रान्तिकारी मानने में आपत्ति उठाया जाना अनुचित नहीं कहा जा सकेगा।

यदि आप अपना दृष्टिकोण पाश्चात्यदेशीय उस संकीर्ण अमर्यादित क्रान्ति से हटा लें, जो राजकीय क्षेत्र में वर्ती जाती रही है, और यह समझ लें कि क्रान्ति यथार्थ में "सौम्य प्रगतिशील शक्ति" (harmonius dynamic force) को कहते हैं तो आप को निःस्सन्देह यह विदित हो जायगा कि तुलसी का निर्गुण राम, सगुण राम और दशरथनन्दन राम तीनों क्रान्तिकारी हैं।

(अ) निर्गुण और सगुण राम की क्रान्ति का रूप

सृष्टि त्रिगुणात्मक है। ब्रह्म त्रिगुणातीत है, इसलिये वह निर्गुण भी कहाता है। उसमें प्रकृति सुषुप्त, लय या अव्यक्त रहती है। अतएव वह सशक्त-शून्यवत रहता है। इस स्थिति पर विशेष विस्तार से न कहकर केवल इतना ही पाठकों को स्मरण दिलाना है कि जिस शून्य में इस अनन्त सृष्टि को रचने, संयमित रखने तथा आवश्यकतानुसार पुनः अपने आप में विलीन करने की क्षमता हो वह भला क्रान्तिकारी क्यों न कहा जाय ! इसी तरह जब हम इस महान विस्तृत और क्लिष्ट सृष्टि को देख उसके व्यक्त अथवा सगुणरूप पर विचार करके उसकी उस अद्भुत और अद्वि-

तीय गति का लेखा लगाने बैठते हैं जिसके द्वारा वह उसका नियमबद्ध या समृद्ध संचालन कर रहा है तो उसमें हमें क्रान्ति ही नहीं बल्कि महा और अद्वितीय क्रान्ति ही दिखाई देती है। धर्म-ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न तर्कों, दृष्टान्तों तथा आख्यानों द्वारा विस्मित कर देनेवाला इसी क्रान्ति का चित्र खिंचा हुआ हमें मिलता है। धर्म-ग्रन्थों से यदि चिढ़ हो तो सृष्टि-विकास के वैज्ञानिकों अथवा भौगोलिक विशारदों आदि के कथनों को ही देख लीजिये, वे क्या कहते हैं ? सृष्टि की रचना कैसे हुई पहले इसी पर विचारिये। कहा जाता है कि सर्व प्रथम सूर्य जैसा सर्व व्याप्त एक महान् उष्ण द्रव पदार्थ था। उसमें जब जैसी कहीं-कहीं शीतलता आई तब तैसा वह दृढ़ खंड़हरों के रूप में इधर-उधर बिखरता गया। कहीं गड्ढे होकर समुद्र बन गये। कहीं पर्वत होकर गिर पड़े। कोई भू भाग बन यहां उड़कर गिरा और कोई यहां। गरज यह कि सभी अपने-अपने अनुमान लगाकर इस सर्व व्यापक सगुण रूप राम की अद्भुत् क्रान्तिकारी करतूतों का उल्लेख करते-करते थक जाते हैं। वैज्ञानिकों के इस पिघले हुए पदार्थ (molten mass) को धर्म-ग्रन्थों में कथित 'हिरण्यगर्भ' का द्योतक समझकर पढ़ने से दोनों की विचार-धाराओं में विषमता नहीं दिखाई देती। यह तो दिग्दर्शन हुआ सृष्टि की आदि उत्पत्ति का। बाद में भी उत्पत्ति-नियमित-संचालन और विधिपूर्वक विनाशात्मक कार्यों का तांता नहीं टूटता क्योंकि सृष्टि अनन्त है। इस सगुणात्मक राम की नित्य चलती हुई क्रान्तिमय इसी प्रगति को, हमारे विचारानुसार गीता में 'प्रवर्तित चक्र' कहा है। इस तरह हस्तस्थ विषय को सीमाबद्ध रखने के अभिप्राय से निर्गुण राम और सगुण राम दोनों की क्रान्तियों पर इतने स्वल्प रूप से ही विचार कर लेना पर्याप्त है। यह सुनकर अब सम्भव है आप इस निर्गुण और सगुण राम की इस तात्विक चर्चा को तत्त्व वेत्ताओं की निरी बकवाद कहकर उस पर अव्यवहारिकता की छाप लगा दें और यह कहने लगें कि उस दशरथनन्दन राम पर आइये, जिसे हम जीता-जागता आदर्श मान सकते हैं, कि उसने अपने जीवन में ऐसे कौन से काम किये जिन्हें हम क्रान्तिकारी कह सकते हैं।

(ब) दशरथ-नन्दन राम की क्रान्ति का रूप

ठीक है हम भी यही समझते हैं कि अब दशरथ-नन्दन राम के चरित्रों को विचार कर देखा जाय कि उन्होंने कौन से क्रान्ति रूपी कार्य किये। इनका अनुसंधान मानस वा वाल्मीकि रामायण में कथित बातों ही के आधार पर किया जा सकता है। राम का जन्म जिस समय हुआ उस समय भारत की क्या स्थिति थी, इसे जानने के लिये उनके जन्म के पूर्व में सुर-नर-मुनि तथा गौ-भूमि आदि की कारुणिक वन्दनाओं को पढ़िये। चूँकि उक्त ग्रन्थ, विशेषकर मानस, धर्म-दृष्टि से लिखे गये हैं, इसलिये उन वन्दनाओं आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी, जैसा कि सभी देश वा काल की सभी दुर्व्यवस्थित समाजों में होता है, धर्म का ह्रास और अधर्म का प्रवाह हो रहा था, अर्थात् सुरवृत्ति का लोप तथा असुर वृत्ति का बोल-बाला चल रहा था। जब-जब जहाँ-जहाँ ऐसी परिस्थिति उपस्थित होती है तब-तब इसका एक मात्र कारण यही होता है कि उस समाज की राज्य-व्यवस्था बिगड़ी हुई रहती है। वह कभी सशक्त होने, और कभी अशक्त होने के कारण अधर्म-मार्ग को अपनाती हुई उत्तरोत्तर अधोगति को पहुंचती जाती है। परशुराम द्वारा इक्कीसवार क्षत्रीय-राजाओं का पराजय, धनुष-यज्ञ में अनेक राजाओं का एकत्र होकर काम के वशीभूत होकर लड़ना-भिड़ना तथा राम के तपोवन के समय दक्षिण भारत में राम का बहुत से बलवान राजाओं से मुकाबला करना, इन बातों से स्पष्ट है कि भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होकर छिन्न-भिन्न हो रहा था। कोई ऐसा शक्तिशाली या प्रभावशाली राजा नहीं था, जो अपने सदाचारों से तथा बल-पराक्रम के द्वारा सभों पर अपनी धाक जमा सके, एवं आसुरी वृत्ति के स्थान में दैवी वृत्ति की स्थापना कर सके, जिसके फल स्वरूप सारा जन-समुदाय हर प्रकार से सुरक्षित रह आर्थिक, धार्मिक आदि लाभ यथाविधि प्राप्त करके सुख-चैन से जीवन व्यतीत कर सके। इसलिये जिस प्रकार कृष्ण ने धर्म-राज्य की स्थापना के लिये प्राण-पण से प्रयत्न किया था, उसी प्रकार राम ने धर्म-राज्य की, जिसे मानस में राम-राज्य कहा गया है, स्थापना

की। यह उन्होंने अपने उस यथार्थ क्षत्रित्व को वरतकर किया जिसमें केवल वीरत्व ही निहित नहीं रहता, जैसा लोग बहुधा समझा करते हैं, वरन् सुनीति तथा विनीत और दया का भाव भी लबालब भरा रहता है। राम के निम्न कार्यों के देखने से कोई भी यह कह सकता है कि उनके वे कार्य उच्चकोटि के क्रान्तिकारी थे—

(अ) कौटुम्बिक स्नेह

राजा दशरथ की तीन रानियां, तीनों के अलग-अलग पुत्र, राम के राज्याभिषेक होने का फल उपस्थित सौतेली मां कैकेयी की ताना-बाजी, पिता का मृत्यु-शय्या पर व्याकुल रहना, और फिर भी सहर्ष तपस्वी-वेष को धारण कर एक चक्रवर्ती राजा का यह सुकुमार युवक राम अपनी एक सरल-हृदय-नम्र यौवना पत्नी के साथ राज्य को छोड़ चल देता है, और कभी भी आ`-पीछे अपनी सौतेली माताओं वा भाइयों से स्वप्न में भी द्वेष-भाव मन में नहीं लाता। यह क्या कम क्रान्ति है उन लोगों के लिये जो एक माता-पिता के भी होकर धन-दौलत के पीछे मर-मर पड़ते हैं, पारस्परिक रक्त-प्रवाह कर डालते हैं, सगे-सौतेले मां-बाप को गाली-गलौज कर मारने-पीटने तक की नौबत ले आते हैं!!

(ब) उत्तराधिकारित्व—

प्रतीत होता है कि उत्तरीय भारत में बसे हुए आर्य राजाओं में मृत राजों का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र हुआ करता था और दक्षिण-वासी अनार्य राजाओं में उत्तराधिकारी मृत राजा का भाई होता था, जैसे वाली का सुग्रीव वा रावण का विभीषण हुआ था। दूसरे राज्यों की इस उत्तराधिकारित्व की प्रचलित प्रथा में राम जी ने हस्ताक्षेप नहीं किया। परन्तु अपने निजीवंश की उच्चता पर विचार करते हुए उन्होंने इसका विरोध किया और कहा 'विमल-वंश यह अनुचित एकू, अनुज विहाय बड़ेहि अभिषेकू।' शंका हो सकती है कि फिर उन्होंने वन के लौटने पर क्यों राज्य ग्रहण किया? कारण यह था कि यह एक ऐसी प्रथा थी जो सभी क्षत्रिय

वंशों में प्रचलित थी तथा अवधराज्य की प्रजा के सन्मुख उसका पालन किया जाना आवश्यक भी था, इसलिये उसकी अवहेलना करना राजनैतिक मूर्खता होती। इसके अतिरिक्त, राम के द्वारा स्वीकृत इस उत्तराधिकारित्व के साथ व्यक्तिगत सत्ता वा वैभव आदि का प्रश्न नहीं था—उसके साथ था प्रधानतः न केवल प्रजा के प्रति वरन् समस्त कुटुम्ब के प्रति कर्त्तव्य-भार अर्थात् राज्य का एक प्रकार से इन सब की ओर से ट्रस्टी (Trustee) बनकर राज्य चलाना। इस प्रकार प्रचलित राज-सत्ता के स्थान में ट्रस्टी-पन का भाव उत्पन्न कर राज्य को सम्हालना क्या क्रान्ति का रूप नहीं? सम्पत्तिवालों, राज्याधिकारियों आदि को ट्रस्टी की भावना लेकर समाज में वास करने के महत्व को गांधी ने भलीभांति समझा था। इसलिये उनके द्वारा उत्पन्न की गई क्रान्ति में उन्होंने उसे विशेष स्थान देकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को प्रकट करके बनाया था। इस समय भी बिनोवा जी उसी को भू-दान, श्रम-दान, सम्पत्ति-दान आदि द्वारा आगे बढ़ा रहे हैं।

(स) स्त्री-सम्मान और दाम्पत्य

सामाजिक क्षेत्र में, विशेष कर राजाओं के जीवन में, तहलका मचा देने वाली यदि कोई सबसे अधिक महत्वशालिनी क्रान्ति थी तो वह हमारी समझ में थी, बहुविवाह अथवा बहुपत्नियों की प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाना। यों तो दाम्पत्य-विकास के ज्ञाताओं को यह ज्ञात होगा कि समाज के प्रारम्भ काल में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पशुओं जैसा अस्थिर रहता था, एक स्त्री अनेक पुरुषों को वरण कर सकती थी तथा एक पुरुष अनेक स्त्रियों को वरण कर सकता था। स्त्रियों द्वारा एक ही समय पर अनेक पुरुषों को वरण कर लेने की प्रथा तो प्रायःसमाप्त थी; परन्तु पुरुषों द्वारा एक ही समय पर अनेक स्त्रियों को पत्नियां वा दासियां बनाकर रखने की—विशेषकर धनी लोगों में और उनसे भी अधिक धन-बल वा बाहुबलवालों में, राम के समय में प्रचलित थी। राजाओं का तो अनेक स्त्रियों को रखना मानो धन्धा ही

हो रहा था। और वह धंधा भी ऐसा कि मानो वे उनकी संख्या बढ़ाने में एक दूसरे के प्रति स्पर्धा करते हों। यद्यपि पौराणिक काल राम-काल के बहुत पीछे का है, तथापि पुराणों में वर्णित राजाओं के वृत्तान्तों से यह पता लगता है कि राजा लोग सहस्रों स्त्रियों को अपने भोग-विलास की सामग्रियां बनाकर रखते थे। एक पत्नी-व्रत का मार्ग देखना तो स्वप्न हो रहा था। इतिहास काल को भी देखिये तो यह विदित हो जाता है कि समाज को कलंकित करने वाली यह पैशाचिकी प्रथा न केवल इधर भारतवर्ष में ही वरन् सारी पृथ्वी पर प्रचलित रही। अब उसका क्या, कितना और किस रूप में अस्तित्व है इस पर विचार करना हमारे विषय के बाहर की बात है। हमें तो इतना ही बताना अभिप्रेत है कि राम ने अत्यन्त बलशाली राजा होते हुए भी इस पुरानी प्रचलित प्रथा को, जिसके चक्कर में उनके पिता दशरथ को भी उन्होंने फंसा हुआ पाया था, ठुकरा कर जन्म पर्यन्त एक पत्नी-व्रत को इस तरह निबाहा कि उन्होंने स्वप्न में भी कभी पर स्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखा। वे चाहते थे कि समाज में हर पुरुष पर-स्त्री को बहिन या माता के समान माने तथा एक पत्नी से अधिक पत्नियां या दासियां किसी के पास न रहें। सीता जी जब विभीषण आदि के द्वारा लंका से राम के पास राजघरानों में प्रचलित प्रथा के अनुसार पर्दा में पालकी पर लाई जाती हैं, तब रामजी उन लोगों को धुतकार कर कहते हैं कि तुम लोगों ने यह सब क्या लगाया है। सीता को खुली तरह से पैदल आने दो ताकि सब सैनिक आदि एकत्रित जन समुदाय उन्हें माता के रूप में देखकर प्रसन्न हो। यह महाक्रान्ति का स्वरूप नहीं तो और क्या है? स्त्रियों के प्रति इससे अधिक उच्च क्रान्तिकारी भावना और क्या हो सकती है कि राम के छोटे सौतेले भाई लक्ष्मण अपनी भौजाई के मार्ग में उछरे हुए पद-चिन्हों तक को इतना पूज्य मानते थे कि कहीं भूल से चलते समय उनके पद-तल उन पर न पड़ जायें, अथवा जिन्होंने उनके नूपुर को छोड़ अन्य आभूषणों को इसलिये नहीं देख पाया था, कि उन्होंने माता-सीता के अंगों की ओर कभी दृष्टि ही नहीं डाली थी। यदि राम की स्त्री-सम्मान-सम्बन्धी दृष्टि इतनी क्रान्तिमय न होती तो

'अनुज वधू भगिनी सुत नारी, सुनु शठ ये कन्या सम चारी' कहकर वालि को आहत करने का कदाचित अवसर ही न आता?

(ङ) राजनैतिक

उक्त क्रान्तियों से अधिकतम रोमांच उठाने वाली क्रान्ति हमें उस समय देखने को मिलती है, जब हम तत्कालीन इक्ष्वाकु वंशीय राज्य-शक्ति-क्षीणता के स्थान में राम की पराक्रमिक, यौद्धिक और राजनैतिक कुशलता के फलस्वरूप उनकी विजय-पताका फहराने के पश्चात् उत्तर भारत से लेकर दक्षिण में लंका तक 'राम-राज्य' की स्थापना का दिग्दर्शन करते हैं। इसका जो संक्षिप्त रूप आपके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है उसे पढ़कर सम्भवतः पाश्चात्य-देशीय पूर्वोक्त क्रान्ति की व्याख्या से प्रभावित हो जाने वाले आधुनिक पाठक भी राम को महान क्रान्तिकारी स्वीकार करने में आगा-पीछा न करेंगे।

इसे जानने के लिये सबसे पहले हमें भारत के उस नकशा को ध्यान में लाना होगा जो उस समय की तत्सम्बन्धी भौगोलिक और राजनैतिक स्थितियों पर प्रकाश डाल सके। घटना सहस्र वर्ष पूर्व की है। तब से नाम, रूप या स्थानों में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। इन परिवर्तनों की जानकारी के लिये हमा ` पास कोई प्रामाणिक इतिहास-साहित्य का साधन भी नहीं है। इसलिये उक्त स्थितियों का पूर्ण-शुद्ध रूप जानना कठिन है। फिर भी रामायण के आधार पर ही आवश्यक ज्ञान कर लेना कोई कठिन नहीं इस हेतु हमने पाठकों के लाभार्थ तत्कालीन हिन्दुस्तान (भारत) का एक नकशा दिया है।

उन दिनों में भारत का बहुत अधिक भाग वन-प्रधान था। अपने विषय की दृष्टि से उसको दो भागों में देखिये। एक उत्तरीय भाग जो नर्मदा-ताप्ती नदी के उत्तर में पड़ता है और पूर्व की ओर सरयू-गंगा के संगम के आगे गंगा के निकटवर्ती स्थानों में कुछ दूर तक इस तरह बढ़ता जाता है कि उसके अन्तर्गत तत्कालीन मिथिला-राज्य आ जाता है, जिस पर राजा जनक

राज करते थे। उसी राज्य के अन्तर्गत अथवा उसके बाहर कुछ अन्तर से दक्षिण-पूर्व में एक वन प्रदेश था जो ताटका (ताड़का) वनके नाम से उस समय प्रसिद्ध था। उसकी स्वामिनी ताड़का राक्षसी थी। ताड़का का पुत्र मारीच था। उसी वन में कुछ भाग में अथवा उसके समीप सुबाहु नाम के राक्षस का भी आधिपत्य था। सरयू-गंगा के संगम पर शिव के उपासक ऋषि मुनियों का एक आश्रम था, जो उसके पूर्व से ही 'शिवाश्रम' कहाता था। इस 'शिवाश्रम' से प्रायः दक्षिण की ओर वर्तमान वक्सर[१] के समीपस्थ सोन नदी के दक्षिण में 'विश्वामित्र का सिद्धाश्रम' था जहां उनके साथ सम्भवतः विष्णु के उपासक कुछ ऋषि-मुनि रहते थे। जनक-राज्य के दक्षिण पश्चिम में अवध "कौशल" का राज्य था, जिसपर राजा दशरथ राज्य करते थे। इस तरह उत्तरीय भाग में सिंध आदि पंच-नदियों के प्रदेश, पंजाब से लेकर गंगा-जमुना आदि के कछारों वा मिथिला राज्य तक आर्य जाति के राजाओं का अर्थात् उन लोगों का राज्य था जो आधुनिक इतिहासज्ञों के मतानुसार मध्य एशिया से आकर भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने से धसते हुए पूर्व की ओर बसते गये। इन समस्त आर्य-राजाओं में से उस समय केवल अवध-राज्य और मिथिला-राज्य ये ही दो राज्य प्रधान थे। दोनों के आदि पुरुष इक्ष्वाकु थे, जैसा कि पिछले सातवें अध्याय में कह आये हैं।

नर्मदा-ताप्ती के दक्षिणीय भाग में अनार्यों का अर्थात् वहां के आदिवासियों का राज्य था। रामायण से विदित होता है कि इन आदिवासियों में गृद्ध वानर और ऋक्ष नामक जातियां भी थीं। इनमें से गृद्ध और वानर जाति वालों के दो अलग अलग राज्य भी थे। गृद्ध-राज्य का अधिपति जटायु था, और वानर-राज्य का वालि। गृद्धराज्य के विस्तार वा प्रभाव की अपेक्षा वानर-राज्य अधिक विस्तृत और प्रभावशाली था। वालि-राज्य की राजधानी किष्किन्धा थी, जो एक लेखक के अनुसार वर्तमान विजयानगर के

---

१. मर्यादा पुरुषोत्तम राम (माधव पुस्तकालय, देहली) पृ० ३६

पास थी,[१०] हालांकि हमारी समझ में वह उससे अधिक दूर दक्षिण-पश्चिम ओर वानर-राज्य की उस "मधुवन" वाटिका से कुछ ूरी पर रही होगी जिसके फलादि वानरों ने लंका से हनुमान के लौटने पर खाये थे। यह 'मधुवन' महेन्द्र पर्वत के निकट कहीं रहा होगा, और यह महेन्द्राचल समुद्र के उत्तरीय किनारे पर होना चाहिये क्योंकि लंका जाते समय हनुमान उसी पर से आकाशगामी हुए थे और वहां से लौटते समय भी वे उसी पर उत े थे जहां अन्य वानर उनकी बाट देख रहे थे। किष्किन्धा नगर जहां भी रहा हो, पर यह निश्चय रूप से प्रतीत होता है कि वालि-राज्य गोदावरी नदी के उत्तरीय भाग से लेकर दक्षिण में समुद्र तक काफी लम्बा-चौड़ा रहा होगा। उसके उत्तर में नर्मदा-ताप्ती तक धसा हुआ जटायु का राज्य रहा होगा। प्रतीत होता है कि दशरथ के पहले उनके किसी चक्रवर्ती पूर्वज के समय इक्ष्वाकु वंशीय राज्य की छत्रछाया (Supremacy) भारत के दक्षिणी भाग तक फैल चुकी थी, जैसा कि लक्ष्मण और राम के द्वारा सूर्पनखा और वालिको दण्ड देते समय की वार्ताओं से विदित होता है। परन्तु दशरथ के समय तक अवध-राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी जिसके फल स्वरूप वालि का वानर-राज्य स्वतंत्र हो गया था। चूंकि जटायू ने सीता को रावण से छुड़ाने के अभिप्राय से रावण से युद्ध किया था, और चूंकि राम ने उसे अपने पिता का मित्र कहकर उसके अन्त्य-संस्कार किये थे इससे सिद्ध होता है कि केवल गृद्ध-राज्य तक अवध-राज्य की छत्र-छाया शेष रह गई थी।

उत्तरीय भाग के आर्य-लोगों में नैतिकता (morals) और संस्कृति (culture) का विकास तो बढ़ता गया था, परन्तु अर्थप्रद साधनों की सुलभता तथा पारस्परिक कलह आदि के कारणों से पदार्थत्व (materialism) के विकास में कमी होती गई। इसके विपरीत वन-प्रधान दक्षिणी भाग के अनार्यों में यद्यपि नैतिकता और संस्कृति का विकास

---

१०. " " पृ० ३४

कम था, तथापि वे शारीरिक तथा पदार्थ-वैज्ञानिक कलाओं में आर्यों की अपेक्षा अधिक बलवान और निपुण थे। वालि का बल इतना चढ़ा-बढ़ा था कि तत्कालीन महावली लंकाधिपति रावण को भी उससे संधि करनी पड़ी थी।[11] कहावत तो यहां तक है कि वालि ने रावण को छः माह तक अपनी कोख में चपेट कर रखा था।

वह रावण कोई ऐसा-वैसा साधारण व्यक्ति नहीं था। वह था, राक्षस-जाति का लंकाधिपति। चहुँ ओर से प्रकृतिदत्त समुद्र-द्वारा रक्षित रहने के कारण उसे अपने राज्य को उन्नत करने एवं लौकिक शक्ति को बढ़ाने में पर्याप्त योग प्राप्त था।[12] अतएव वैभवशालिनी लौकिक दक्षता में उसके समान उस समय कोई नहीं था। पदार्थ-वैज्ञानिक-कुशलता तो मानो उसके घर की दासी थी। पर उसके वैभव और सफलता ने उसे क्रोधी-लोभी और कामी भी खूब बना रखा था। देश-विदेशों में उसके भय से लोग थर्राते थे। उसके चिल्लाने से स्त्रियों के गर्भ तक गिर जाते थे। इतना ही नहीं उसने भारत पर भी आक्रमण करना और विविध प्रकार से आतंक फैलाना प्रारम्भ कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसने भारत के दक्षिणीय उस जंगली भाग में, जिसे दण्डक वन कहते थे और जो सम्भवतः बेनगंगा के पूर्व वा किष्किन्धा राज्य के उत्तर में था, अपना आधिपत्य जमा लिया, जिस पर उसके भाई खर और दूषण अपनी फौज-पलटनों के साथ उसकी ओर से राज्य करने लगे। पड़ोसी बालि से संधि कर दण्डकवन में स्थित उसने अपने इस उपनिवेश को सुरक्षित भी कर लिया था। गंगा से लेकर गोदावरी

---

११. बाल० रा० उ० कां० ३४।४०-४२

१२. कुछ लोग वर्तमान लंका को प्राचीन लंका नहीं कहते। कुछ भी हो, पर इतना निश्चय है कि वह भारत के दक्षिण में थी और उसके चहुँ-ओर समुद्र था।

तक का भाग दण्डकवन कहाता था।[१३] इसके अतिरिक्त उसने अपनी ओर से अथवा अपने सहयोग से इसी देश के उत्तरीय, अथवा भारत के उत्तर-पूर्वीय भाग में ताड़का-मारीच और सुबाहु के अधिकार में एक दूसरा उपनिवेश बसा दिया था जिसके विषय में अभी ऊपर कहा जा चुका है। इन दोनों उपनिवेशों को राक्षस शासक, सैनिक तथा जनता भारतीय जनों, ऋषि, मुनियों, तपस्वियों एवं निकटवर्ती या दूरवर्ती राजाओं आदि पर न केवल कर आदि वसूली करने में वल्कि और भी नाना प्रकार के अत्याचार ढाते थे। रावण जनक के दरबार तक धावा कर आया था, और सम्भवतः सीता को वरण करने के लोभ-वश सीय-स्वयम्बर के हेतु किये गये धनुष यज्ञ के पहले ही शिव-धनुष को उठाने के हेतु अपनी ताकत अजमा आया

---

१३. चार्ल्स जो पिन ने अपने द्वारा निर्मित हिन्दुस्थान के ऐतिहासिक एटलस में प्राचीन आर्य भारत की स्थिति बताने के लिये नकशा दिया है तथा तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण करने के लिये एक वक्तव्य भी लिखा है। वह यह है—

"Part at least of the story of the Ramayana was acted in the land of Kosala, on the banks of the Gomti, Saryu and Airavati, with its capital Ayodhya, and in the Kingdom of mithila with their chief town Janakpur. South of the Ganga as far as the Godavari stretched Dandak, the great forest. The other countries mentioned in the epic can not be determined......Some of Kosala had wandered to the South and settled south of the Vindhya and on the banks of the Narbada and Vena (Wainganga). Other Aryans settled on the Godavari, on the Payoshni (Tapti) and in the coast land south of the Payoshni, which was called Prabhsa."

था। उधर चक्रवर्ती अवध राज्य के राजा अनरण्य से भी युद्ध कर उसे दिग्विजय के समय मार आया था।

आनार्यों की दक्षिण में स्वच्छन्दता और राक्षसों का प्रायः पूरे दण्डक वन में प्रसार एवं उनके अत्याचार और आक्रमण क्यों हो रहे थे, उनका एक मात्र कारण यही था कि आर्य राजाओं की शक्ति क्षीण हो रही थी, एक ओर मिथिला के राजा लोग एक के बाद एक चिरकाल से अध्यात्मवादी (विदेह) होते गये, इसलिये उनकी सैनिक शक्ति यहां तक क्षीण होती गई कि ताड़का मारीच वा सुबाहु ने मिथिला राज्य ही के दरवाजे खटखटाना शुरू कर दिये। दूसरी ओर, अवध के राजा अधिकतर नाम मात्र के चक्रवर्ती रह गये। यद्यपि बीच बीच में सगर हरिश्चन्द्र वा रघु आदि कुछ चार छः राजा योग्य अवश्य हुए, तथापि राजा मान्धाता के पौत्र अनरण्य के समय से साधारणतया अवध-राज्य के सर्य-वंशीय राजाओं की भक्शालनी गति का ह्रास होता ही गया। सगर का पुत्र असमंजस और असमंजस के सौतेले साठ हजार भाई सब के सब निकम्मे वा दुराचारी निकले। कल्माषपाद गौ—ब्राह्मण तथा धर्म के प्रति इतना श्रद्धाहीन हो गया कि उसने गो-वध जैसे नीच कर्म पर रोक न लगाई। मूलक नारी-कवच वन गया। रघु ने यद्यपि खोये हुए वैभव को फिर से एक बार उठाने का प्रयास किया तथापि राज्य-कोष खाली हो जाने से उसको अपने जीवन के अन्तिम दिन निर्धनता में व्यतीत करने पड़े। रहे रघु के पौत्र राम के पिता, राजा दशरथ थे, सो उनका हाल कुछ न पूछिये। राम-लक्ष्मण आदि जैसे सुपुत्र होने के कारण उनके भाग्य की प्रशंसा चाहे जितनी कर ली जाय पर यथार्थ में उनमें अपने पूर्वजों जैसा सूर्यवंशीय शौर्य नही था। विलासी आप इतने थे कि वाल्मीकि के कथनानुसार तीन पटरानियों के अतिरिक्त आपने साढ़े तीन सौ रानियां और बना रखी थीं। क्षत्रित्व आप में इतना था कि देवासुर संग्राम में अपनी रानी कैकेयी की सहायता लेकर लड़े। रावण के नाम से आप इतने थर्राते थे कि जब विश्वामित्र जी राम-लक्ष्मण को मांगने के लिये आए तो उक्त ऋषि से

बड़ी कट्टरता से कहने लगे कि हे मुने, जिस रावण की आज्ञा से मारीच-सुबाहु आदि राक्षस उत्पात मचाते हैं उसे तो देव, दानव गन्धर्व, यक्ष, पक्षी और सांप भी युद्ध में नहीं जीत सकते तब भला मनुष्य की क्या गिनती है।

देव दानव गन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि॥[१४]

जिस राजा ने किसी अत्याचारी व्यक्ति के प्रति यह धारणा बना ली हो वह भला उसके आश्रितों तथा आधीनस्थ लोगों के विरुद्ध कैसे चूँ कर सकता है? और जब चूँ करने का साहस नहीं, तो फिर उसकी बाढ़ को कौन रोक सकता है। तभी तो दशरथ ने विश्वामित्र जी से खुले शब्दों में कह दिया कि न तो मैं युद्ध में उस दुरात्मा के सामने टिक सकता हूँ (नहि शक्तोस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः)[१५] और न मैं उसकी सेना के विरुद्ध ही लड़ सकता हूँ (तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः)[१६]।

चक्रवर्ती राजा का जब यह हाल था, तो दूसरे छोटे छोटे राजाओं से क्या आशा की जा सकती थी? एक ओर तो उनमें परस्पर विरोध था, और कुछ अत्याचारी भी थे। कई एक इतने पापाचारी हो गये कि गौ-ब्राह्मणों की रक्षा करना तो दूर रहा उन्हीं पर अपना बल वा क्रोध प्रकट करने लगे। सहस्रबाहु ने परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि का सिर ही काट लिया। इस तरह जब धर्म की हानि हुई और क्षत्रियों के हाथ से क्षत्रित्व गिर गया तो उसे सम्हालने का भार ब्राह्मण ही को सौंपा गया। भृगुपति परशुराम ने यह भार लिया। परन्तु उन्होंने इतना क्रोध किया कि इक्कीस वार-क्षत्रिय-राजाओं पर आक्रमण कर उन्हें इस तरह तहस-नहस कर दिया कि वे उनको देखते ही ऐसे छिप जाते थे जैसे 'बाज झपट जनु लवा लुकाने' हों। परशुराम

---

१४. बाल० रा०, बा० कांड, २०।२२
१५. बाल० रामा०, बा० कां० २०।२०
१६. ,, ,, ,, ,, २०।२३

की इस नीति से देश को कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टी हानि ही हुई। उनके हाथ में यह कार्य जाने से एक तो अवध-राज्य की चक्रवर्तीपन की, जो परम्परा से प्राप्त धाक शेष थी वह मटियामेट हो गई, जिससे केन्द्रीय शक्ति अत्यन्त निर्बल पड़ गई। दूसरे भयभीत राजागण न तो स्वयं संगठन की ओर कदम-उठा सके, और न परशुराम जी ने स्वयं उस ओर कुछ लक्ष्य अपनाया। तीसरे, इस असंगठन और निर्बलता का लाभ उठाकर न केवल वानर-राज्य स्वतंत्र हो गया, वरन् राक्षसों को अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये पर्याप्त अवकाश हाथ लगा।

देश पर जब इस प्रकार की नौबत आ पहुँची है तब स्वाभाविकतः कुछ विचारशील देशवासियों के मन में उसे मुक्त करने की धुन सवार हो जाती है, और फिर वे एक मत से उस सम्बन्ध में कुछ योजना तैयार करते हैं। ऐसे महापुरुषों में हमें विश्वामित्र का स्थान सर्वप्रथम दिखता है।

विश्वामित्र एक बड़े तेज तर्राट क्षत्रिय राजा थे। उन्हें अपने मान-मर्यादा की रक्षा का विशेष ध्यान था। उन्हें शस्त्र-अस्त्रों का अद्वितीय ज्ञान था, और इसलिये प्रतीत होता है कि वे युद्ध-विद्या में भी अवश्य निपुण रहे होंगे। क्षत्रिय गुणों से सम्पन्न होने के कारण वे राजर्षि कहलाते थे। परन्तु वे क्रोधी भी अधिक थे। इसलिये कारणवश उनकी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ से, जो पहले मित्र थे, ठन गई थी। दोनों में लड़ाई भी खूब चली, उसमें उनकी हार हुई। तब उन्होंने उक्त युद्ध में बचे हुए अपने एक मात्र पुत्र को राज्य सौंप दिया और वन में जा उग्र तप किया, जिससे उन्होंने क्रोध पर विजय प्राप्त की। इसके अतिरिक्त उनमें अपने सामने परोसे हुए अन्न को अतिथि को दे देने की क्षमता भी आ गई। इन दो गुणों के आ जाने पर वे ब्रह्मर्षि पद के अधिकारी हुए जिसका अनुमोदन वशिष्ठ जी ने स्वयं सहर्ष किया। इस तरह विश्वामित्र और वशिष्ठ दोनों ब्रह्मर्षियों की पुनः मित्रता हुई।[१७]

---

१७. बालमी० रामा०, बा० कां० सर्ग ५५ से ६५ तक (विशेषकर ५५, ६४, ६५)

विश्वामित्र जब राजा थे तभी उनको राक्षसों और अनार्यों की बाढ़ खल रही होगी, इसमें सन्देह नहीं ! परन्तु वशिष्ठ के साथ लड़ाई में कई दिनों तक उलझे रहने के कारण उनके विरुद्ध कोई सक्रिय कदम उठाना उनके लिये सम्भव न था। उसके बाद वे तपस्या में लग गये। परन्तु तपस्या के समय भी उन आततायियों ने उन्हें सताया। वे सिद्धाश्रम में कोई ऐसा यज्ञ सम्पन्न करना चाहते थे जिसमें लगातार शान्तियुक्त मौन रहने की आवश्यकता थी। परन्तु ताड़का, मारीच, बाहु तथा उनके साथी अन्य राक्षस गुप्तरूप से मांस-रक्त आदि बरसा कर यज्ञ में विघ्न डाल दिया करते थे। उनका यह दुराचार अन्य आश्रमवासियों के साथ भी हुआ करता था। ऐसे समय पर जबकि परशुराम जी बागडोर सम्हालने में असफल सिद्ध हुए तथा और कोई उसे सम्हालने वाला नहीं दिखा तब धर्म के रक्षण और देश के उद्धार के लिये उनका ध्यान इस बात पर गया कि अवधराज्य को ही पुनः ऐसा शक्तिवान बनाया जाय कि वही उन दुराचारियों से युद्ध कर यश का भागी हो। वे राम के गुण-गान सुन चुके थे। इसलिये उनके द्वारा उन्हें न केवल अपने यज्ञ रक्षण में वरन् देशोद्धार में सफलता मिलती नजर आई। अतः वे राम-लक्ष्मण को लाने के लिये दशरथ के दरबार में पहुँचे। दशरथ ने राम-लक्ष्मण को उनकी कुमारावस्था के कारण ताड़का, मारीच, आदि राक्षसों से लड़ने को असमर्थ समझ विश्वमित्र जी को उन्हें देना अस्वीकार कर दिया। परन्तु बाद में वशिष्ठ जी के समझाने पर राजी हो गये। वशिष्ठ जी ने यह क्यों किया, इसमें हमें यह रहस्य प्रतीत होता है। विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी के साथ या तो अवध में पहुँचने के बाद अथवा उसके पहले किसी दूसरे समय पर देश की पतित दशा पर मन्त्रणा की होगी और राम की योग्यता देख दोनों की सम्मति यही रही होगी कि राम के द्वारा अवध-राज्य को फिर से उठाया जाय और भारत अनार्यों वा राक्षसों के पंजे से छुड़ाया जाय ताकि आर्य-संस्कृति का लोप न हो सके। इसी गहरी धारणा से प्रभावित होकर न कि केवल विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षण के लिये, उन्होंने राजा दशरथ को उनके प्राण-प्रिय किशोर पुत्रों को दे देने के लिये मन्त्रणा

दी होगी। गुरु वशिष्ठ की आज्ञा को स्वीकार कर दशरथ ने राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र को सौंप दिया। तब तीनों 'शिवाश्रम' पर पहुँचे। स्वाभावत: वहां के आश्रमवासियों ने राक्षसी-अत्याचारों का वर्णन दोनों राज कुमारों को सुनाया। तत्पश्चात् उन्हें विश्वामित्र ने दण्डकवनवासी ताड़का, मारीच आदि के वास वा दुराचारों का परिचय कराया। ताड़का को मार्ग में ही राम ने जा गिराया। तत्पश्चात् 'सिद्धाश्रम' से पहुँच विश्वामित्र ने यज्ञ प्रारम्भ किया तथा राम ने सुबाहु और अन्य विघ्नकर्ता राक्षसों का अन्त किया एव मारीच को ऐसा तीर मारा कि वह सौ योजन दूर समुद्र के किनारे जा गिरा। इसका अभिप्राय हमारी समझ में यह है कि अन्य राक्षस तो मारे गये, पर मारीच मार-खाकर भाग बचा। इस तरह यज्ञ विधिपूर्वक नियुक्त अवधि के भीतर निर्विघ्न समाप्त हुआ। विश्वामित्र प्रसन्न हुए और राम-लक्ष्मण को एक से एक बढ़कर शस्त्र-अस्त्र की विद्यायें सिखाईं। इसके बाद सिद्धाश्रमवासी राम-लक्षमण-विश्वामित्र समेत जनकपुर सीता-स्वयंवर के हेतु किये जाने वाले धनुष-यज्ञ को देखने गये। वे सोन नदी को और फिर गंगा को पार कर वैशाली (विशालापुरी) से होते हुए मिथिला राज्य के निकट जनक-राज्य के राजगुरू सतानन्द के पिता गौतम ऋषि के आश्रम पर पहुँचे, जहां गौतम की पत्नी अहिल्या का उद्धार किया। तत्पश्चात् जनकपुर गये, और यथा समय राम द्वारा धनुष तोड़े जाने पर सीता ने राम को जयमाल पहिनाई। इस यशस्वी कार्य के संपन्न होने पर एक प्रमुख घटना आती है, और वह यह है कि ब्राह्मण परशुराम जी ने क्षत्रित्व की बागड़ोर अपने हाथ से पुन: सूर्यवंशीय युवक क्षत्रिय राम के हाथ सौंपी। देश के धन धर्म की बागड़ोर एक युवक के हाथ में सौंपा जाना कोई साधारण बात नहीं थी। जिस दिन परशुराम ने अपना धनुष राम को सौंप उस पर शेदा चढ़ाने के लिए कहा अर्थात् जब उन्होंने अपने काम का शिर भार राम पर छोड़ा उसी दिन से राम पर भारी उत्तरदायित्व आ पड़ा। और यह भार क्या आपने सोचा किन की अनुमति से राम के सिर पर रखा गया। वह रखा गया उस समय के तीन महा-व्यक्तियों की अनुमति से, जिन्होंने राम के बाल्यकाल

से लेकर अभी तक के उनके कार्यों को देख कर उन्हें उक्त उत्तरदायित्व को भली-भांति निबाहने के योग्य समझ लिया था। वे तीन व्यक्ति थे वशिष्ठ विश्वामित्र और परशुराम। तीनों की अनुमति से यह कार्य सम्पन्न हुआ। इससे यह अभिप्राय नहीं कि धनुष सौंपते समय तीनों एकत्र थे। बाल्मीकि विश्वामित्र को विदा बरात की बिदा के पहले ही जनकपुरी में कर देते हैं और बरात के लौटते समय मार्ग में जब परशुराम का पहुँचना और धनुष देना बताते हैं तब केवल दशरथ, वशिष्ठ और अन्य बराती उपस्थित थे। तुलसीदास बरात के आने के पहले ही धनुर्भंग-स्थल पर परशुराम का पहुँचना वा लौट जाना कहते हैं। इस तरह उनके कथनानुसार धनुष विश्वामित्र, जनक तथा अन्य एकत्रित राजागण एवं ऋषि-मुनि आदि अतिथियों के सम्मुख सौंपा जाता है। तुलसी विश्वामित्र की बिदा बरात लौटकर पहुँचने के बाद अयोध्या से करते हैं। अध्यात्म रामायण यह कुछ कहती ही नहीं कि विश्वामित्र की बिदा कब और कहां से हुई जो भी हो, इतना निश्चय है कि वशिष्ठ और विश्वामित्र तो राम की योग्यता को पहले ही परख चुके थे। केवल परशुराम को सन्देह रहा था, सो उन्होंने जनकपुर में स्थित धनुष के भंग की बात सुन और अपने धनुष पर शोदा चढ़ाते हुए देख राम को अक्षय-सुरोत्तम आदि समझकर अपने सिर पर चढ़ाये हुए सेहरे को राम के सिर पर इसलिये चढ़ा दिया कि उन्हें उनकी कार्य-कुशलता में कोई सन्देह नहीं रहा। तभी तो वे राम जी से कहने लगे 'धनुषोऽस्य परामर्शात् अक्षयं जानामि त्वांसुरोत्तमम्'[१८] यही भाव उन्होंने, तुलसी के शब्दों में, यह कहकर दर्शाया-'राम रमापति कर धनु लेहू। खेंचहु चाप मिटहि सन्देहू'।[१९]

कुछ लोगों का कहना है कि तुलसीदास ने परशुराम वाली उक्त घटना को स्थानान्तरित इसलिये कर दी हैं कि जिससे बालकों का मनोरंजन हो। परन्तु हमारी समझ में, उन्होंने उसे सबसे अधिक महत्व देना चाहा है।

---

१८. बाल० रामा०, बा० कां० ७६।१७

१९. मानस बा० कां० २८३।७

वह न केवल राम के जीवन का, बल्कि चक्रवर्ती सूर्य वंशीय अवध राज्य ए भारत भाग्य का निर्माता अथवा परिवर्तनकारी चिन्ह (turning point) होने वाला था। ऐसा महत्व का पद राजाओं, विद्वानों, ऋषि-मुनियों एवं अधिक से अधिक जन-संख्या के सामने सौंपा जाता है। वही तुलसी ने किया। वे विश्वामित्र को, जिन के कारण केवल रामादि यशस्वी और विवाहित हुए, बल्कि दो प्रधान राज्य-घरानों का सम्बन्ध जुड़ा, अयोध्या तक बरात के साथ ले जाते हैं और वहां से अत्यन्त प्रेम व सम्मान पूर्वक राजा दशरथ के द्वारा यह कहलवाते हुए उनको बिदा कराते हैं—

'करब सदा लरिकन पर छोहू, दरसनु देत रहब मुनि मोहू'[२०]

बरात लौटने पर विश्वामित्र कुछ दिन अयोध्या में रहे। उन दिनों उन्होंने वशिष्ठ जी से पूर्व में निश्चित की गई योजना के भावीक्रम पर परा-मर्श किया और फिर अपने स्थान पर चले गये। दशरथ का उपर्युक्त चौपाई में कथित प्रेम को देख कर, सम्भव है वे फिर अयोध्या को एकाधवार और आये हों, और वशिष्ठ जी से पुनः उस योजना के सम्बन्ध में बात-चीत की हो। उक्त योजना का उद्देश्य राम के द्वारा अवध-राज्य का पुनरुत्थान करना, और उसी के बल पर भारत का उद्धार करना। पर यह कैसे हो? अवध में न इतना सैन्य-बल था, न कोष-बल, जिससे वह कुछ जोर भरता, और न कहीं से कोई संगठित प्रबल सहयोग की ही आशा थी। वशिष्ठ और राम के मन में कदाचित यही चिन्ता चल रही थी कि राजा दशरथ ने राम का अभिषेक करना चाहा। अभिषेक मात्र से क्या होगा वशिष्ठजी ने सोचा?' इसलिए उन्होंने राजा तो यही कहा कि 'हां। अभिषेक अविलम्ब किया जाय परन्तु उसकी उपयोगिता में संदिग्धता बनी ही रही जिसके कारण उहोंने 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जय, राम होहिं युवराजु' कह ही डाला। इधर राम को जब गुरु ने कहा 'राम करहु सब संजम आजू, जौं विधि कुसल निवाहै

२०. " " ३५९।७

काजू' तो गुरु के जाने पर राम के हृदय में विस्मय हो उठा कि इस अभिषेक से क्या लाभ होगा ? यदि मुझ अकेले को राज्य मिला तो, सम्भव है, भाइयों-भाइयों में अतिशय स्नेह होने पर भी पारस्परिक ईर्षा वा विद्रोह हो उठे, जिसके परिणाम स्वरूप अवध-राज्य की स्थिति और भी अधिक डाँवाडोल हो जाय और अपने उत्तरदायित्व को पूरा न कर सकूँ। इसलिये विचार-शील राम ने अपने मन में यही सोचा कि अपने सिर-भार को यथा विधि निबाहने के लिये एक तो राज्य का त्याग करना और दूस` सैन्य-बल की अपेक्षा-शत्रुओं के विरुद्ध जनमत को तैयार करना आवश्यक होगा। शत्रुओं की सैनिक, आर्थिक और संगठित शक्ति के सामने अयोध्या की शक्ति इतनी निर्बल थी कि उसके द्वारा शत्रुओं से पार पाना अतिदुर्गम था। इसी उधेड़-बुन में राम चिन्तित हो रहे थे, कि संयोग वश उनके अनुकूल एक समस्या उठ खड़ी हुई। यह समस्या चाहे दैवयोग से आ पड़ी हो, चाहे विश्वामित्र-वशिष्ठ के परामर्श का परिणाम हो। जो भी हो, कैकेयी के मायके से उसके साथ आई हुई मंथरा दासी ने एक ऐसा राजनैतिक जाल फैलाया कि राम का मन्तव्य सिद्ध हो गया। मंथरा ने जिस तरह कैकेयी को फोड़ लिया उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह न केवल असाधारण बुद्धिवाली ही थी वरण उसे राजनीति का भी अच्छा ज्ञान था। उनकी योग्यता तो थी कोई अच्छी रानी होने की पर उसका कूवड़ी होना ही उसके मार्ग में रोड़ा बनकर आ बैठा था। तभी तो वह कहती है 'करि कुरूप विधि पर बस कीन्हा।' भक्त तुलसीदास जी ने अपने स्वामी के नाते से मंथरा को यदि कुबुद्धि, पापिनी, सांपिनि आदि कहा है, सो कुछ अनुचित नहीं है। पर यदि कोई राजनीतिज्ञ उसकी परख करे तो वह वाल्मीकि के समान उसे 'वाक्य विशारदा'[२१] और कैकेयी के समान 'बुद्धि-प्रवीणा तथा माया और विद्या-युक्त राजनीति-निपुणा (मलयः क्षत्र विद्याश्च मायाश्च वसन्ति ते)[२२]

---

२१. वा० रा०, अयोध्या कां०।७।१८

२२. " " " " ९।४७

कहे बिना नहीं रहेगा। जिस चातुर्य पूर्ण तर्क के साथ उसने राम को सदा के लिये राज्य से च्युत रखने तथा भरत को राज्य-भोक्ता बनाये रखने की बात कैकेयी के मन में भर दी, उससे उसकी राजनैतिक-बुद्धि का पता बड़ी आसानी से लग जाता है। १४ वर्ष तक राम के वन में रहने से वह कहती है राम के प्रति प्रजा आदि स्नेहियों का प्रेम घट जावेगा तथा भरत के प्रति बढ़ जावेगा जिससे भरत अबाधित और शत्रुहीन राज्याधिकारी बने रहेंगे।[२३] यह था उसका सुझाव फिर उसने यह भी तो सुझाया होगा कि वन में इतनी लम्बी-अवधि तक रहने से न जाने राम के जीवन पर क्या-क्या खतरे गुजरेंगे-बचेंगे या नहीं। परन्तु मंथरा की इन सब बातों से हमारे विषय का कोई विशेष प्रयोजन नहीं। प्रयोजन केवल इतना ही है कि एक राज्य घरानेमें बचपन से पालीपोसी मंथरा, यदि राजनैतिक बातों वा तत्कालीन देश की परिस्थितियों से परिचित हो गई हो तथा दासी होने के कारण उसको गुरु वशिष्ठ और ऋषि विश्वामित्र से तत्सम्बन्धी सम्पर्क रहा हो एवं उसके फलस्वरूप उसने यह राजनैतिक जाल कैकेयी पर इसलिये फेंका हो कि जिससे रामचन्द्र जी को भारतोद्धार करने का निश्चिन्त होकर अवकाश प्राप्त हो सके, तो कोई असम्भव बात नहीं है। इतिहास में आपको ऐसे गुप्त मन्त्रणाओं से भरे एक दो नहीं अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं। मंथरा की प्रत्यक्ष निर्दय और घातक दिखने वाली इस कठोर मंत्रणा में रघुकुल को सदा भलाई चाहने वाले वशिष्ठ का किसी प्रकार हाथ कहना मानो अपने आपको अनेक धर्म-प्रेमी पाठकों के कोप का भाजन बनाना है। पर यदि यह बात सच है कि अवध-नरेशों पर चक्रवर्ती कहलाये जाने का उत्तरदायित्व था, अवध का सैन्य, कोष वा संगठन-बल बुरी तरह से गिरा हुआ था, रघुवंश के प्रति हृदय से शुभकामना रखने वाले विश्वामित्र वा वशिष्ठ अवध के पुनरुत्थान के लिये चिन्तित थे तथा परशुराम ने राम को अपना धनुष सौंपकर उन्हें अपना सर्वोत्तम उत्तराधिकारी चुना था, तो यह समझना की मंथरा

---

२३. ,, वा० रा० अयोध्या कां० ९।३१,३३

के द्वारा उत्पन्न की गई उक्त परिस्थिति में वशिष्ठ का भी हाथ रहा होगा राजनैतिक दृष्टि से न तो आश्चर्यजनक ही कहा जा सकता है और न असम्भव ही। अच्छा, अब यदि इस विचार से कि दैव-प्रधानवाली आपकी धार्मिक भावना को ठेस न पहुँचे, यही मान लिया जाय कि मंथरा ने उक्त परिस्थिति दैववश उत्पन्न कर दी, तब भी वशिष्ठ को खुशी ही हुई होगी, क्योंकि उन्होंने अपने अभीष्ट को पूरा करने के लिये संयोग प्राप्त हो गया।

भारतोद्धारक उक्त योजना के तैयार करने वालों में हमने विश्वामि विशिष्ठ-परशुराम के साथ केवल राम और मंथरा का ही नाम जोड़ा है, परन्तु एक विद्वान् लेखक ने तो अपने विद्वता पूर्ण लेख में यहाँ तक कह डाला है कि उसमें कैकेयी और सीता का भी हाथ था। उक्त महाशय ने अपनी 'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' नाम की एक छोटी सी पुस्तक में 'क्रान्तिका ी राम' शीर्षक एक आलोचनात्मक लेख लिखा है, जो पठनीय है। उसमें उन्होंने राम की इसी राजनैतिकक्रान्ति की पहलू पर विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि उस समय की गंभीर परिस्थितियों को देख अनार्य-साम्राज्यों को भस्मकर आर्यों की विजय-पताका फहराने तथा राष्ट्र को संगठित वा उन्नत करने की भावना सर्वत्र फैल रही थी और इसीलिये उस क्रान्ति को सुलझाने का कार्य ऋषियों आदि ने राजनीति-कुशल विश्वामित्र को सौंपा। वशिष्ठ ने उन्हें सहयोग दिया। परशुराम ने भगवान का प्रभुत्व स्वीकार कर समस्त राजाओं पर अयोध्या के सिंहासन का सिक्का बैठाया। राज्याभिषेक के समय राम इस चिन्ता में व्यस्त थे कि सम्पूर्ण भारत फिर से आर्य-संस्कृति के पवि झण्ड़े के नीचे कैसे आवे और सूर्यवंश फिर से चक्रवर्ती सम्राट् के सिंहासन पर कैसे बैठे। मंथरा ने राष्ट्र की भलाई के लिये स्वयं को राष्ट्र-घातक होने के कलंक से लांछित कर लेने का एक महान त्याग किया। यहाँ तक तो हम उक्त लेखक, श्री कण्ठ शास्त्री व्याकरणाचार्य जी के विचारों से साधारणतया सहमत हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त आपने कुछ ऐसी बातें भी लिख मारी हैं जिनसे स्वाभाविक, व्यवहारिक एवं लौकिक घटनाचक्रों पर अलौकिकता और अस्वाभाविकता, अन्तर्यामित्व आदि की